मध्य हिमालय खण्ड : 3

उत्तराखण्ड का नवीन इतिहास

डॉ० यशवन्त सिंह कठोच

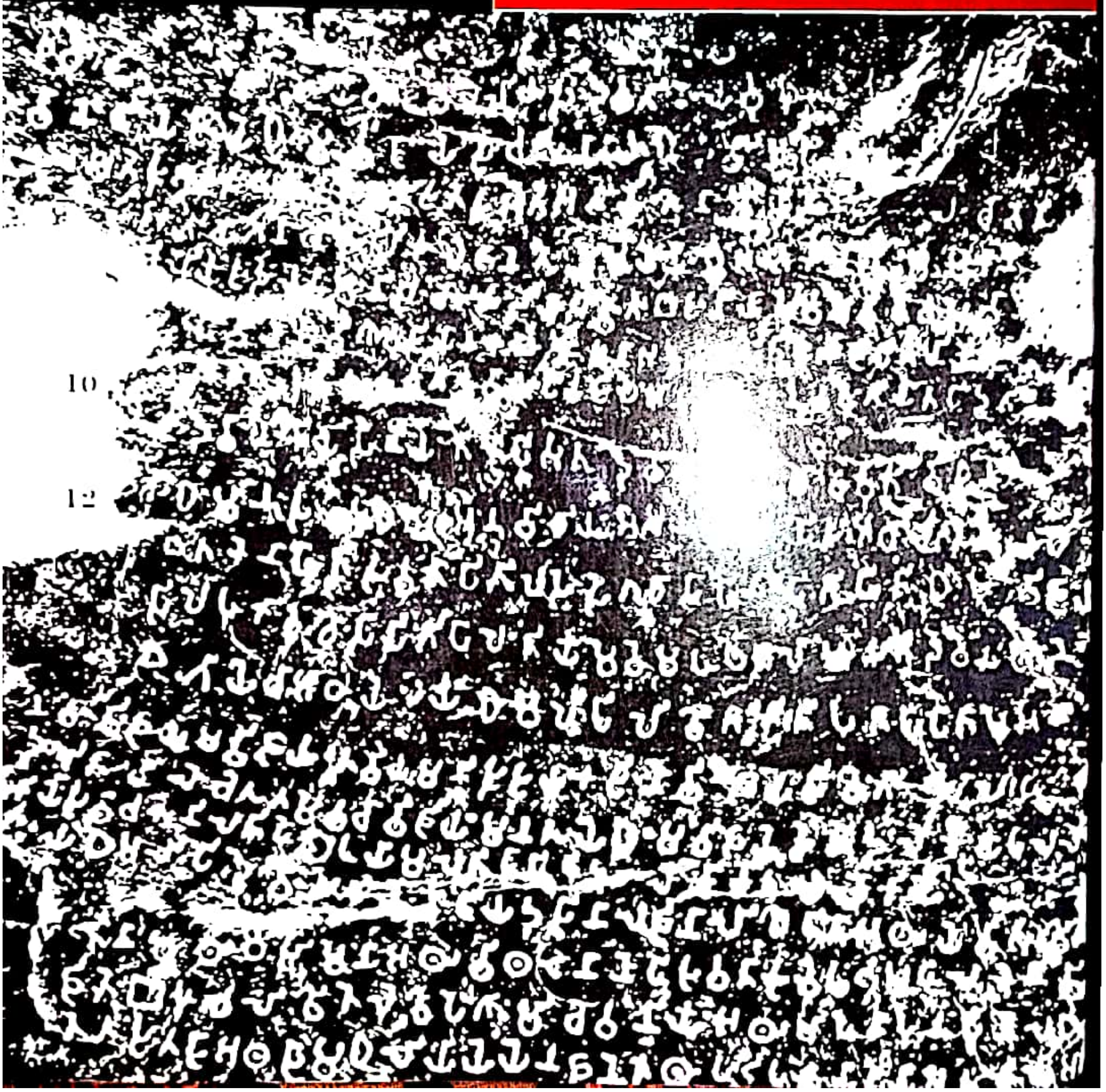

Scanned by CamScanner

अध्याय १२.
पँवार शक्ति का विस्तार-काल

(*प्राय:* १४६० - १८०४ ई०)

हम लिख चुके हैं कि कार्त्तिकेयपुर राजवंश प्रथम ऐतिहासिक राजवंश था जिसने समस्त उत्तराखण्ड में राजनीतिक एकता ही स्थापित नहीं की, अपितु साम्राज्य-सीमाओं को इससे बाहर भी दूर-दूर तक विस्तृत किया। तीन शतियों से अधिक काल तक इस भू-भाग पर शासन करने के पश्चात्, बैतड़ी-डोटी के मल्ल-आक्रमणों के पूर्व ही, इस प्रतापी राजवंश का अवसान हो गया। परिणामस्वरूप, मध्य हिमालय में पूर्वकालीन स्थानीय गढ़पतियों तथा राजवंशों को पुन: अपनी स्वतन्त्र सत्ताएँ स्थापित करने का सुअवसर प्राप्त हो गया। राजनीतिक विघटन, बहुराजकता तथा अशान्ति इस युग की प्रधान विशेषताएँ थीं। उत्तराखण्ड इतिहास का यह अन्धकार-युग भी प्राय: तीन शतियों तक व्याप्त रहा। इस काल में, केदारभूमि में प्रधान बावन गढ़ विद्यमान थे। 'चाँदपुरगढ़' उनमें से एक था जहाँ नवीं शती के अन्त में 'पँवार राजवंश' की स्थापना हुई थी। केदारभूमि में पँवार **राजवंश का उत्थान** तीन चरणों में हुआ—

(१) कनकपाल से लेकर ग्यारहवीं शती ई० के पूर्वार्द्ध तक, जब पँवार राजा बहुसंख्यक गढ़पतियों में से एक थे, तथा कार्त्तिकेयपुर नरेशों के सामन्त-मात्र थे। इनमें कनकपाल तथा सोनपाल की अनुश्रुतियों को छोड़कर किसी राजा की उपलब्धियों का विवरण प्राप्त नहीं है।

(२) लखणपाल से लेकर आनन्दपाल (द्वि०) तक, जब ये राजा सामन्ती जुवे को फेंककर, स्वतन्त्र रूप में अधिक विस्तृत क्षेत्र पर शासन करने लगे। उन्होंने गढ़ों के विजय की प्रक्रिया प्रारम्भ की। यह उनके सिक्कों तथा अभिलेखों द्वारा प्रकट होता है।

(३) अजयपाल से लेकर प्रद्युम्नशाह के काल तक, जब केदारभूमि के एकीकरण के फलस्वरूप, पँवार इस भू-भाग के एकछत्र नरेश हुए। केदारभूमि 'गढ़' राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुई, और श्रीनगर को एक बार पुन: राजधानी का गौरव प्राप्त हुआ। यह काल पँवार शक्ति के विस्तार एवं वैभव का काल था।

प्रथम दो चरणों का वर्णन हम पूर्व अध्याय में कर चुके हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम पँवार शक्ति के तृतीय गौरवशाली काल का वर्णन कर रहे हैं जिसका सूत्रपात पन्द्रहवीं शती ई० के अन्त में इस राजवंश के महान् नरेश अजयपाल द्वारा हुआ।

इस काल की **स्रोत-सामग्री** हमें अग्रलिखित रूप में उपलब्ध है— पँवारों के अभिलेख और सिक्के, पँवार-वंशावलियाँ, समसामयिक ऐतिहासिक काव्य, विदेशी यात्रियों तथा मुगलकालीन विवरण, इन विवरणों के आधार पर लिखे अँगरेजी तथा हिन्दी के इतिहास ग्रन्थ तथा अँगरेज प्रशासकों के गजेटियर्स। इसके अतिरिक्त, लोकगाथाओं में भी कुछ सामग्री मिल जाती है। पड़ोसी राज्यों के अभिलेखागारों में भी महत्त्वपूर्ण सामग्री मिल सकती है परन्तु उसका अब तक दोहन नहीं हो सका है। किन्तु इस काल की महत्त्वपूर्ण स्रोत-सामग्री की अपूरणीय क्षति सन् १८०४ में हो गयी थी जब राजधानी श्रीनगर के राज-अभिलेखों का विनाश 'गोरख्याणी' में हुआ।

श्रीनगर के पँवार शासक*

३७. अजयपाल, अजैपाल (*शिला०*), अजेयपाल (*रामा०प्र०*)

३८. कल्याणपाल, कल्याणशाह (साह)

३९. सुन्दरपाल

४०. हंसदेवपाल

४१. विजयपाल

४२. सहजपाल

४३. बलभद्रपाल, बलभद्रशाह, बहादुरशाह

---

* बैकेट तथा ह० रतूड़ी की सूचियों में समता है। यहाँ वंशावली उन्हीं के आधार पर दी गयी है। बैकेट की सूची वर्ष १८४९ की शासकीय रिपोर्ट से ग्रहण की गयी है। कल्याणपाल से विजयपाल तक चारों राजाओं के नाम वि० रतूड़ी तथा देवराज ने भी दिये हैं। *रामायणप्रदीप* (श्लोक २३) में भ्रमवश सहजपाल को अजेयपाल का पुत्र लिखा गया है।

Scanned by CamScanner

४४. **मानशाह**

४५. **श्यामशाह, शामशाह,** श्यामशाह (*वास्तुशिरोमणि*)

४६. **महीपतिशाह**, महिपतिशाही (*शिला०*), महीपतिसाह (*राजमुद्रा*).
(श्यामशाह का चाचा)

४७. **पृथ्वीपतिशाह, पृथ्वीसाह**

४८. **मेदिनीशाह**

४९. **फतेशाह, फतेहसाह,** फतेपतिशाह (*रामा०प्र०*), फतेसाह, फतेपतिसाह (*फतेप्रकाश*), फतेपतिसाह (*राजमुद्रा*).

५०. **उपेन्द्रशाह**

५१. **प्रदीपशाह,** प्रदीप्तसाह (*बैकेट, अलमोड़ा-सूची*), प्रदीपशाह (*राजमुद्रा*)

५२. **ललितशाह,** ललितकुमारसाह, °शाह (*राजमुद्रा*), ललिपतसाह (*बैकेट*)

५३. **जयकृतशाह,** जयकीर्तिसाह (*श्रीनगर-ताम्र०, देवराज*), जयकीर्तशाह (*राजमुद्रा*).

५४. **प्रद्युम्नशाह** (तत्भ्राता)

अजयपाल (*प्राय:* १४६०-*प्राय:* १५१६ ई०)

आनन्दपाल (द्वितीय) के पुत्र अजयपाल को वंशावलियों में पँवार राजवंश का सैंतीसवाँ राजा बताया गया है। हरिकृष्ण रतूड़ी ने अजयपाल के राज्यारोहण की तिथि १५०० ई० दी है। हमने अभिलेख के आधार पर जगतपाल की मृत्यु-तिथि १४६० के आस-पास मानी है और उसके दो वंशजों की शासनावधि अधिकतम ३० वर्ष अनुमानित की है। अतएव अजयपाल १४६० ई० के आस-पास

वि० रतूड़ी ने सामशाह के पश्चात् ४६वाँ राजा 'रामशाह' लिखा है। अलमोड़ा-सूची का 'दुलोरामसाह'। मोलाराम के अनुसार भी, दुलोरामसाह श्यामसाह का पुत्र था।

वि० रतूड़ी द्वारा पृथ्वीपतिशाह के दो पुत्रों का उल्लेख—मेदिनीपतशाह (श्रीनगर में), दिलीपतशाह या दलेबशाह (रवाँजी का शासक, राजगढ़ी उसकी राज०)।

पृथ्वीशाह के पश्चात् 'मेदिनीशाह' का नाम—विलियम्स, बैकेट तथा अलमोड़ा वंशावलियों में है।

एटकिन्सन (१८८४, पृ० ४४७) के अनुसार, उपेन्द्रशाह के अनुज दलीप ने वर्ष १७१७ में कुछ समय शासन किया। *रामायणप्रदीप* (श्लोक ३०) तथा हार्डविक द्वारा भ्रमवश फतेपतिशाह के पश्चात् दिलीपशाह या दुलेबशाह के राजा बनने की बात कही गयी है।

ही सिंहासन पर बैठा होगा।[1] उसका शारानकाल पँवार शक्ति के संवर्द्धन में एक युगान्तर माना जाता है।

राजधानी-परिवर्तन : राज्य-विस्तार एवं उसके सुसंगठन के लिए, राजधानी को अधिक केन्द्रीय और सुविधापूर्ण स्थान पर स्थानान्तरित करना आवश्यक हो गया। कदाचित् पूर्वी तथा उत्तरी सीमाओं से सतत लूटपाट एवं '**धाड़ों**' (raids) से सुरक्षा हेतु भी राजधानी स्थानान्तरित करनी पड़ी। अतएव अजयपाल ने चाँदपुरगढ़ से आकर सर्वप्रथम **देवलगढ़** में, और कुछ कालोपरान्त **श्रीनगर** में राजधानी स्थापित की। पँवार राजधानी श्रीनगर की स्थापना का श्रेय *रामायणप्रदीप* (१.१८) तथा *गढ़वाल राज्ञां वंशावलि:* (श्लोक ७०) दोनों अजयपाल को देते हैं।[2]

परन्तु नव राजधानियों की स्थापना कब हुई ? देवलगढ़ में राजधानी की स्थापना कहीं १५०६ ई० बतायी गयी है तो कहीं १५१२ ई०। इसी प्रकार, श्रीनगर में राजधानी की स्थापना कहीं १५०६-१५०९ के मध्य लिखी गयी है तो कहीं १५१७ ई०। परन्तु इन राजधानियों की स्थापना सम्बन्धी ये तिथियाँ असङ्गत विदित होती हैं। अजयपाल के सिंहासनारूढ़ होने के इतने वर्षोपरान्त राजधानी स्थानान्तरित की गयी हों, इसका औचित्य सिद्ध नहीं होता।

कीर्तिचन्द का अब तक प्राप्त सर्वप्रथम ताम्रपत्र १५०० ई० का है और अन्तिम १५०५ ई० का। प्रथम, इतने शक्तिशाली राजा ने मात्र छ:-सात वर्ष ही शासन किया हो यह संदिग्ध है। द्वितीय, उसके पिता रतनचन्द का शाके १३८३ (१४६१ ई०) के ताम्रपत्र के पश्चात् कोई अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ। इन तथ्यों से कीर्तिचन्द के राज्यारोहण की तिथि अवश्य १५०० ई० से पर्याप्त पूर्व होनी चाहिए। इस दृष्टि से, उसके राज्यारोहण की वाल्टन तथा पाण्डे द्वारा दी गयी १४८८ ई० की तिथि शुद्ध प्रतीत होती है। इस आधार पर, अजयपाल के राज्य पर उसका छापा १४६१-६२ ई० के आस-पास मान सकते हैं। इसके एक-दो वर्ष के पश्चात् ही, १४६३-६४ के लगभग, अजयपाल ने राजधानी देवलगढ़ स्थानान्तरित की होगी।

१. गजेटियरकार एटकिन्सन लिखता है कि, स्थानीय अनुश्रुतियाँ अजयपाल को १३५९, १३७६ तथा १३८९ ई० में रखती हैं। वह जनरल कनिंघम के आधार पर, अजयपाल की शासन-तिथि १३५८ ई० को प्रमाणित मानता है (*हि०डि०, २,* १८८४, पृ० ५२६). परन्तु ये तिथियाँ वंशावलियों पर आधारित हैं, तथा अब अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर अशुद्ध सिद्ध हो चुकी हैं.

२. एटकिन्सन का यह कथन, कि देवलगढ़ से राजधानी श्रीनगर महीपतिशाह ने स्थानान्तरित की (*हि०डि०, २, पृ० ५२६*), असत्य है.

Scanned by CamScanner

राज्य-विस्तार : सिंहासनारूढ होने पर, अजयपाल ने शीघ्र केदारभूमि के अवशिष्ट गढ़ों को विजित करने का सङ्कल्प किया। गढ़ों को विजय करने की प्रक्रिया, जैसा कि हम बता चुके हैं, स्वतन्त्र शासक होने पर कदाचित् लषणदेव से आरम्भ हो चुकी थी। परन्तु अभी केदारभूमि का एक बड़ा भाग अविजित ही था। वे अविजित ठकुराइयाँ कुछ इस प्रकार थीं :—

१. पैनखण्डा के ४३ जुमला गढ़पति।

२. भिल्लंग-बाँगर क्षेत्र में कोलीगढ़ आदि के गढ़पति।

३. भागीरथीगङ्गा-घाटी में उपूगढ़ का गढ़पति।

४. जाडगङ्गा-घाटी में गढ़ताङ्गढ़ का गढ़पति।

५. मन्दाकिनी-घाटी में कण्डारागढ़ का गढ़पति।

६. सलाण के असवाल गढ़पति, तथा दक्षिण के अन्य गढ़पति।

उपूगढ़ का कफ्फू चौहान अत्यन्त शक्तिशाली तथा स्वतन्त्रता-प्रिय ठाकुर था। उसके स्वाभिमान तथा अजयपाल की उस पर विजय की गाथा एक प्रसिद्ध गढ़-पँवाड़ा में मिलती है जिसका उल्लेख तारादत्त गैरोला ने किया है।[३] पैनखण्डा मण्डल के जुमला ठाकुरों तथा मन्दाकिनी-घाटी में दुमगदेश के गढ़पति नरवीर सिंह कण्डारी का उल्लेख 'टिहरी राज्य हस्तलेख' में मिलता है।[४] वे अजयपाल द्वारा अधिकृत कर लिये गये। गढ़ताङ्गढ़ का गढ़पति जाडगङ्गा-घाटी के टकनोर क्षेत्र का शासक था, उसे भी विजित कर लिया गया। दक्षिण भाग में, सलाण के असवाल गढ़पतियों तथा अन्यान्य गढ़पतियों पर भी अजयपाल ने अधिकार कर लिया। *'बिजनौर गजेटियर'* (पृ० २४०) के आधार पर कहा जा सकता है कि दक्षिण में नजीबाबाद तथा अफजलगढ़ के कुछ भागों तक अजयपाल के राज्य का विस्तार था। वास्तव में, उत्तर में हिमशिखरों से हरिद्वार के समीप चण्डी तक, तथा जमुना से बधाण तक अपने राज्य का विस्तार कर, उसने सम्पूर्ण देश को अपने शासनान्तर्गत समाहित कर लिया था।[५] डॉ० परमार के अनुसार, सङ्कल्प में इस देश को पुरोहितों द्वारा 'गढ़पाल देश' कहा जाता है जिससे अनुमान होता है कि

३. *हिमालयन फोकलोर*, पृ० ३४.

४. *जॅ०यू०पी०हि०सो०*, जुलाई १९४३, पृ० ७३, ८० में.

५. परमार, पातीराम, *गढ़वाल एन्शॅन्ट एण्ड मॉडर्न*, पृ० १८७.

एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना कर लेने पर राजा अजयपाल ने ही इस देश का नाम, अपने वंश नाम 'पाल' को जोड़ते हुए, 'गढ़पाल' रखा।[६] राहुल जी भी मानते हैं कि "शायद केदारखण्ड का 'गढ़' नाम भी इसी समय पड़ा।"[७]

कुमाऊँ से छापे : अजयपाल के शासनकाल में कूर्माचल से बारंबार छापे पड़ते रहे। अजयपाल तथा चम्पावत के राजा किरातीचन्द (१४८८-१५०६ ई०) के मध्य हुए युद्धों की सूचना ह० रतूड़ी तथा ब० पाण्डे के इतिहासों में मिलती है। रतूड़ी ने लिखा है कि, अजयपाल के राजसिंहासन पर बैठते ही चम्पावत के राजा से युद्ध हुआ। अजयपाल की पराजय हुई। परन्तु सत्यनाथ भैरव के प्रसाद से द्वितीय युद्ध में शत्रु की हार हुई और उसने भयभीत होकर अजयपाल से सन्धि कर ली।[८] दूसरी ओर, पाण्डे का कथन है कि, नागनाथ जोगी की प्रेरणा से कीर्तिचन्द ने गढ़ पर विजय प्राप्त की किन्तु फिर उसका राज्य लौटा दिया। ऐसा कहते हैं कि बाबा सत्यनाथ के कहने से देघाट के पास सीमा निर्धारित की गयी।[९] कवि देवराज कूर्माचल राजा द्वारा अजयपाल को राज्यच्युत करने का उल्लेख करता है परन्तु कीर्तिचन्द का नामोल्लेख नहीं करता। वह इस युद्ध को अजयपाल की वृद्धावस्था में हुआ बताता है।[१०] स्पष्टत: इन युद्धों के काल तथा परिणामों पर पृथक्-पृथक् वर्णन मिलते हैं। अनुश्रुतियों पर आधारित इन कहानियों में ऐतिहासिक सत्य खोजना कठिन है। तथापि, किरातीचन्द से ये झड़पें, कदाचित् १४६१-६२ ई० के आस-पास हुई होंगी। पाण्डे स्पष्ट लिखते हैं कि, सीमा से लगे कत्यूर, दानपुर, आदि क्षेत्र कीर्तिचन्द द्वारा अविजित थे। अतएव, इन क्षेत्रों के अविजित रह जाने पर उसके द्वारा गढ़ को हस्तगत करना नितान्त अतिशयोक्ति ही है।

रामायणप्रदीप[११] के दो स्थलों पर जिन युद्धों का वर्णन है उनमें से प्रथम आक्रमण किसी 'कैंतुरा' द्वारा तथा दूसरा कूर्माचलीय किसी शत्रुदल द्वारा हुआ बताया गया है। इसमें एक तो किरातीचन्द का नामोल्लेख नहीं है। द्वितीय, दानपुर

६. *तत्रैव*, पृ० १३, १८७-८८.

७. राहुल, *हिमालय-परिचय (१)*, पृ० १२६. आगे, भूषण, मतिराम एवं मोलाराम के काव्यों में 'गढ़वार-राज' और 'गढ़राज' नाम आये हैं। विदित होता है कि इन्हीं नामों से, फतेपतिशाह के कुछ ही पूर्व, इस देश का 'गढ़वाल' नाम प्रसिद्ध हुआ.

८. रतूड़ी, ह०, *गढ़वाल का इतिहास*, पृ० ३६४-३६५.

९. पाण्डे, ब०, *कुमाऊँ का इतिहास*, पृ० २५२-२५५.

१०. देवराज, *गढवाल राज्ञां वंशावलि:*, *श्लोक* ८२-८४.

११. मेधाकर, *रामायणप्रदीप*, १.१२; १.१८-१९ (पाण्डुलिपि).

Scanned by CamScanner

क्षेत्र में अभी तक कातियुरों की एक शाखा शासन करती थी जिन्हें किरातीचन्द जीत नहीं सका था। अस्तु, ये झड़पें कातियुरवंशीय किसी प्रमुख से अथवा किसी अन्य जाति से हुई होंगी जिसमें अन्ततः अजयपाल की विजय हुई।

शासन-प्रबन्ध : हेमिल्टन के अनुसार, अजयपाल प्रथम स्वतन्त्र राजा हुआ।[१२] परन्तु सत्य यह है कि उसके पूर्वज लखनदेव तथा तत्पुत्र अनन्तपाल से लेकर छत्तीसवें राजा आनन्दपाल (द्वि०) तक इस राजवंश के सभी पूर्व राजा भी स्वतन्त्र शासन करते रहे। यह उनकी मुद्राओं एवं अभिलेखों से विदित होता है। गढ़राज्य का एकछत्र शासक होने के उपरान्त, अजयपाल ने राज्य की समुचित रूप में सीमाएँ निर्धारित कीं। उसी समय से गढ़वाल में एक लोकोक्ति प्रचलित है—"अजयपाल का ओडा", अर्थात् अजयपाल का सीमा-स्तम्भ अटल था। उसने सीमावर्ती दुर्गों को सुदृढ़ किया और उनमें सैनिक चौकियाँ स्थापित कीं। उसने अपने सुविस्तृत राज्य के प्रशासन तथा व्यवस्था पर पूर्ण ध्यान दिया। एक सशक्त प्रशासनिक व्यवस्था के अन्तर्गत, उसने राज्य को अनेक मण्डलों एवं पट्टियों में विभाजित किया तथा विजित गढ़पतियों के मण्डलों का प्रशासन-दायित्व उन्हें ही सौंपकर उनसे मित्रवत् व्यवहार रखा—उन्हें अपना सभासद बनाकर, उन्हें जागीर में गाँव प्रदानकर तथा उनसे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर। उसने अपने शासनकाल में गढ़राज्य पर सुदृढ़ता से परन्तु उदारतापूर्वक शासन करने की नीति ग्रहण की जिससे देश समृद्ध हुआ। इसका उल्लेख पूर्व इतिहासकारों ने किया है।[१३]

अजयपाल से पूर्व, समाज के उच्च वर्णों एवं उनकी उपजातियों में खान-पान एवं भात को ग्रहण करने के सम्बन्ध में भेदभाव तो था ही, परन्तु यही भेदभावना उसके सैन्य अभियानों के समय सैनिकों के मध्य भी उत्पन्न होती थी जिससे अभियानों में कभी-कभी शिथिलता देखी जाती थी। इस समस्या के समाधान के लिए उसने 'सरोला ब्राह्मणों' की प्रथा प्रारम्भ की। उनके द्वारा बनाये भात को 'शुचि' माना गया। ऐसा करके उसने समाज तथा सेना दोनों में एक सुव्यवस्था लाने का सफल प्रयास किया। अजयपाल ने राज्य में माप-तौल का मानकीकरण

१२. हेमिल्टन (Hamilton), *डिस्क्रिप्शॅन ऑव् हिन्दुस्तान*, खण्ड २, पृ० ६३६.

१३. डॉ० परमार के शब्दों में, "He ruled the country with a strong but gentle hand for twelve years ... Tradition further points out that the country was in a very flourishing state during his reign. Shrinagar has since risen to be the first town in modern Garhwal."–***Garhwal : Anc. & Modern.*** p. 187.

किया। उसके द्वारा निर्धारित पाथा 'चूली पाथा' कहलाता था, जिसे *देवलगढ़-शिलालेख* में "अजैपाल को धर्मपाथो" कहा गया है।

अजयपाल महान् निर्माता था। उसने देवलगढ़ में राजभवन बनाया तथा उसमें कुलदेवी राजराजेश्वरी की स्थापना की। सत्यनाथ भैरव, गौरजा मन्दिर, आदि का जीर्णोद्धार किया। श्रीनगर में भी राजप्रासाद एवं कालिकादेवी मठ, आदि देवालयों का निर्माण किया। विशाल प्रसाधित शिलाखण्डों से निर्मित यह चतुर्तलीय भव्य प्रासाद[१४], जो कई पीढ़ियों में पूर्ण हो सका था, १८०३ ई० के भूकम्प द्वारा ध्वस्त हुआ, और उसका अवशिष्ट अंश भी १८६४ ई० की विनाशकारी बाढ़ से बह गया। उसने चार मील से अधिक दूरी से कुल्य द्वारा राजप्रासाद में जल-व्यवस्था की तथा राजधानी को आम्रकुञ्जों से सज्जित किया।

वह धर्म-सहिष्णु नरेश था। पीछे नाथपन्थी उपासक हो गया था। उसकी गणना नाथ-सिद्धों में की गयी है। उसका नाम साबरी ग्रन्थों एवं गढ़वाल के तन्त्र-मन्त्रों में 'आदिगुरु' तथा 'आदिनाथ' के रूप में मिलता है। अपने इस प्रभाव के कारण साबरी मन्त्रों में उसकी दुहाई दी गयी है—"श्रीराजा रामचन्द्र की आण। राजा अजयपाल की आण।" गोरखनाथ पर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में ब्रिग्ज ने लिखा है कि, "राजा अजयपाल गोरक्षपन्थियों के दस सम्प्रदायों में से एक का संस्थापक था।"[१५]

राजा अजयपाल की गणना मध्य हिमालय के महानतम शासकों में की जाती है। उसके शासनकाल में राज्य-सीमाएँ सुरक्षित रहीं जिससे प्रजा सुखी थी। *मानोदय काव्य* (१.१-३) में उसके महान् गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है—अपने नाम से ही जो शत्रु-मन को तोड़ डालता था (नाम्नैव यः शत्रुमनोविभेत्ता)। राहुल ने समुचित ही कहा है, "शायद यहाँ कवि वास्तविकता से बहुत दूर नहीं है।"[१६] स्थिर शासन की स्थापनाकर उसने "प्रजा को शान्ति और सुख से जीवनयापन का अवसर दिया।"[१७]

शासनकाल : अजयपाल का शासनकाल वंशावलियों में ३१ वर्ष, ह० रतूड़ी के इतिहास में १५०० से १५१६ तक १६ वर्ष तथा डबराल के इतिहास में १५०० से

१४. एटकिन्सन, ई०टी०, *हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स, खण्ड ३*, पृ० ६६३.

१५. ब्रिग्ज, जॉर्ज डबल्यू०, ***गोरक्षनाथ एण्ड दें कनफटा योगीज***, पृ० ७४.

१६. सांकृत्यायन, राहुल, *गढ़वाल*, पृ० १२८.

१७. डबराल, शि०प्र०, ***गढ़वाल का नवीन इतिहास***, खण्ड १, सं० २०२८, पृ० २०५; *खण्ड* २, सं० २०४४, पृ० ४०.

१५४८ ई० तक ४८ वर्ष दिया गया है। डबराल ने *मानोदयकाव्य* का अनुसरणकर, अजयपाल के पश्चवर्ती चार राजाओं के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं किया जिससे उन्हें अजयपाल का शासनकाल ४८ वर्ष बढ़ाना पड़ा। उसका इतना लम्बा काल स्वीकार करना कठिन है। अवश्य इस बीच कुछ राजाओं का शासन रहा। यहाँ हम अजयपाल का शासनकाल १४६० ई० के आस-पास से १५१६ ई० तक २६ वर्ष निर्धारित करते हैं।

वंशावलियों तथा ह० रतूड़ी के इतिहास में, अजयपाल के पश्चात् चार राजाओं ने शासन किया—**कल्याणपाल, सुन्दरपाल, हंसपाल तथा विजयपाल।** परन्तु मानोदयादि काव्यों में इन राजाओं को अमहत्त्वपूर्ण होने के कारण छोड़ दिया गया है। इनकी राजनीतिक उपलब्धियाँ अप्राप्त हैं। कल्याणपाल के सम्बन्ध में लिखा है कि उसने राज्यभार मन्त्रियों पर छोड़ दिया था। विजयपाल के सम्बन्ध में मात्र इतना उल्लेख मिलता है कि उसने नीति-घाट को पारकर भोट राजा पर आक्रमण किया। परिणामस्वरूप, कवि देवराज (श्लोक ८६) के अनुसार, उसने भोज राजा को विजितकर करद बना दिया। परन्तु रतूड़ी के अनुसार वह असफल रहा। ये राजागण अमहत्त्वपूर्ण ही नहीं अपितु किसी कारणवश अल्पजीवी भी रहे जिन्होंने लगभग २७-२८ वर्ष ही शासन किया।

सहजपाल (*प्राय:* १५४७-*प्राय:* १५७५ ई०)

'महाराजाधिराज' सहजपाल को राजावलियों में कनकपाल की ४२वीं पीढ़ी में उत्पन्न, अजयपाल का पञ्चम वंशज बताया गया है। दूसरी ओर, *मानोदय* तथा *रामायणप्रदीप* दो काव्यों में वह अजयपाल के पुत्र तथा उत्तराधिकारी के रूप में वर्णित है। कुछ इतिहासकारों ने भी इन काव्यों के आधार पर ही अजयपाल तथा सहजपाल के मध्यवर्ती चार राजाओं को कल्पित मान लिया। किन्तु यह धारणा स्वीकार करना कठिन है। वस्तुत: इन काव्यों में सहजपाल के पूर्ववर्ती चार राजा केवल अमहत्त्वपूर्ण होने के कारण छोड़ दिये गये हैं।

सहजपाल कालीन पाँच अभिलेख देवप्रयाग रघुनाथ मन्दिर से प्राप्त हुए हैं। इनमें सबसे पुराना शिलालेख वि०सं० १६०५ का तथा सबसे अन्तिम वि०सं० १६३० का है। जिनसे ज्ञात होता है कि उसका राज्यकाल १५४७-४८ ई० से प्राय: १५७५ ई० तक रहा। इस प्रकार, वह कुमाऊँ के राजा बालो कल्याणचन्द तथा रुद्रचन्द का समकालीन था।

उसके शासनकाल में सम्राट् अकबर के मनसबदार हुसैनखाँ टुकड़िया ने शिवालिक पहाड़ियों में छापा मारकर लूटमार की थी, परन्तु वह अधिक सफल नहीं हुआ। इसी काल में अकबर द्वारा एक अन्वेषक दल गङ्गाजी के स्रोत की खोज तथा अन्य जानकारी प्राप्त करने हेतु गढ़राज्य में भेजा गया था।

इन विवरणों से विदित होता है कि सहजपाल के समय मुगल दरबार से सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध थे तथा गढ़राज्य पूर्ण स्वतन्त्र राज्य था। काव्यों में उल्लिखित विवरणों पर विश्वास करें तो कुछ अन्य निष्कर्ष भी प्रकट होते हैं। *मानोदयकाव्य* में सहजपाल को राजनीति-चतुर तथा संग्राम में शत्रु को सन्ताप देनेवाला बताया गया है। वह महाबली एवं विद्वानों का आश्रयदाता था (*रामायणप्रदीप*)। *गढवाल राज्ञां वंशावलि:* (श्लोक ६०) के अनुसार भी, वह वीर, गुणवान् तथा प्रजा को सुख देनेवाला था। (**वीर: गुणज्ञ: सुखद: प्रजाया:**)। प्रतीत होता है कि उसने भी विजयाभियान द्वारा राज्य-शासन को सुदृढ़ किया।

बलभद्रपाल (*प्राय:* १५७५-१५९१ ई०)

वंशावलियों में बलभद्रपाल वा बलभद्रशाह सहजपाल का उत्तराधिकारी तथा पँवार-वंशक्रम में ४३वाँ राजा वर्णित है। बलरामशाह एवं रामशाह उसी के नाम बताये जाते हैं। *रामायणप्रदीप* (श्लोक २४) *तथा गढ़वाल राज्ञां वंशावलि:* (श्लोक ६१) में उसे सहजपाल का पुत्र कहा गया है। परन्तु *मानोदयकाव्य* में सहजपाल के उपरान्त बहादुरशाह नाम न आने के कारण, राहुल तथा डबराल[१८] उसे सहजपाल का पुत्र तथा उत्तराधिकारी नहीं मानते। डबराल लिखते हैं, "यह बलरामशाह मानशाह का चाचा था। *मानोदय* में इसके स्वतन्त्र शासन का वर्णन नहीं है। अस्तु उसने अवयस्क मानशाह के अभिभावक के रूप में शासन किया था।" हमारे मत से मात्र *मानोदयकाव्य* में बहादुरशाह का नामोल्लेख न होने से, उसे सहजपाल का उत्तराधिकारी न मानना न्यायसङ्गत नहीं है। उसके सहजपाल के उत्तराधिकारी होने के पीछे मान्य परम्पराएँ तथा वि० शर्मा तथा ह० रतूड़ी के इतिहास हैं।[१९]

सहजपाल तक गढ़-नरेशों के नामान्त में 'पाल' जोड़ने की प्रथा थी। सहजपाल के उत्तराधिकारी कल्याणपाल को कल्याणशाह भी कहा गया है। अत:

१८. राहुल, *गढ़वाल*, पृ० १३१; डबराल, शि०प्र०, *गढ़वाल का नवीन इतिहास*, खण्ड २, सं० २०४४, पृ० ५०.

१९. शर्मा, वि० *गढ़वाल राज्य का इतिहास*, पृ० ३८; रतूड़ी, ह०, *गढ़वाल का इतिहास*, पृ० ३७१.

Scanned by CamScanner

गढ़-नरेशों में बलभद्रपाल ने ही सर्वप्रथम **'शाह' विरुद** धारण किया, ऐसा नहीं मान सकते। पूर्व लेखकों ने लिखा है कि किसी दिल्लीश्वर ने गढ़ नरेश बलभद्रपाल को उसकी वीरता से प्रसन्न होकर यह विरुद दिया। ये कहानियाँ, वास्तव में, कपोलकल्पित हैं। यदि यह विरुद दिल्लीश्वर द्वारा प्रदत्त होता तो मुगल इतिहासों एवं फरमानों में ही गढ़ नरेशों के लिए बहादुरसिंह, सामसिंह, प्रथीसिंह, मेदिनीसिंह, फतेसिंह जैसे 'सिंहान्त' नाम प्रयुक्त क्यों होते? वास्तविकता यही है कि मुगल काल में, अन्य हिन्दू राजाओं की भाँति, गढ़ नरेश भी 'साह' या 'साही' विरुद धारण करने लगे थे जो उनकी स्वतन्त्र सत्ता का द्योतक था। गढ़ नरेशों के ताम्रपत्रों एवं शासनादेशों पर जो राजमुद्राएँ अङ्कित हैं उनमें साह, साही, शाह तीनों रूप मिलते हैं—फतेपतिसाह, पृथ्वीपतिसाही, प्रदीपशाह। उनकी संस्कृत में लिखी मुद्रा (Coin) पर 'फतेशाह' तथा संस्कृत काव्यों में 'मानशाह' लिखा मिलता है।

राजा बलभद्रशाह अपने बल एवं युद्ध-प्रियता के लिए प्रसिद्ध था। उसके बल-पराक्रम की गाथाएँ पूर्व लेखकों ने लिखी हैं। कवि देवराज ने उसकी तुलना भीमसेन से की है (**भीमसेन समोबली**)। उसके शासनकाल की महत्त्वपूर्ण घटना बघाण पर रुद्रचन्द का आक्रमण था। इस काल में, पूर्वी सीमा से सटी कत्यूर-घाटी में अन्तिम कातियुरवंशीय राजा सुकालदेव (सुखलदेव) स्वतन्त्र शासक था। बढ़ती चन्द शक्ति को देखते हुए, बलरामशाह तथा सुकालदेव में पहले से मैत्री-सम्बन्ध बन गये थे। अस्तु सन्धि-शर्तों के अनुसार, सुकालदेव ने गढ़ नरेश की सहायता की। ग्वालदम के समीप हुए इस युद्ध में, चन्द सेनापति पुरुषू पन्त मारा गया और कुमाऊँ सेना की पराजय हुई। ग्वालदम-युद्ध की तिथि वाल्टन ने १५८१ ई० लिखी है। पर अन्य १५६०-६१ भी लिखते हैं। दुलाराम कुमाऊँ के राजा रुद्रचन्द का समकालीन और प्रतिद्वन्द्वी था। राहुल (पृ० १३५) ने रुद्रचन्द से दुलारामशाह का युद्ध हुआ बताया, जो गलत है।

अकबरनामा के अनुसार, १५८१ ई० में जब कटेहर में भी अकबर के विरुद्ध विद्रोह हुआ, तब कुमाऊँ के राजा रामसाह, मुकुटसेन तथा करण ने भी विद्रोहियों का साथ दिया। इस रामसाह की एकता गढ़राज्य के बलरामसाह से की जाती है। उसने बाद में विद्रोहियों का साथ छोड़ दिया था। यदि वह बलरामसाह ही था, तो अल्प विद्रोह के उपरान्त, उसने मुगल दरबार से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखे। उसके द्वारा अकबर की अधीनता स्वीकार करने का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है।

बहादुरशाह ने राजधानी में प्रस्तर के विशाल राजभवन का निर्माण किया जिसका उल्लेख *रामायणप्रदीप*, श्लोक २४ में हुआ है—"**वैजयन्त सदृशं सुविस्तृतं**

प्रस्तरैर्विरचितं सौधं।" ऐसा विदित होता है कि उसने अजयपाल के प्रासाद का ही अधिक विस्तार किया।

महाराजा मानशाह (१५९१-*प्राय:* १६११ ई०)

परम्परागत वंशावलियों[२०] तथा *रामायणप्रदीप* में सर्वत्र मानपाल अथवा मानशाह बलभद्रशाह का पुत्र तथा उत्तराधिकारी के रूप में वर्णित है।[२१] इस नरेश के वि०सं० १६४६ (१५६२ ई०) से १६६८ (१६११ ई०) तक के अभिलेख प्राप्त हो चुके हैं जिनके आधार पर उसका शासनकाल १५६१ ई० से प्राय: १६११ ई० निश्चित होता है। उसके समकालीन राजाओं में, चन्दवंशीय रुद्रचन्द एवं तत्पुत्र लक्ष्मीचन्द तथा मुगल बादशाह अकबर एवं जहाँगीर थे।

'गर्व-भञ्जन' नाम से प्रसिद्ध तथा 'महाराजाधिराज' विरुदधारी मानशाह अति प्रतापी तथा पराक्रमी नरेश हुआ। शताब्दियों से पश्चिमी भोटदेश (ङ-री) से गढ़राज्य के उत्तरी भागों पर निरन्तर छापे पड़ते आ रहे थे। इसलिए मानशाह को इन छापामारों से अपनी प्रजा की रक्षा करना आवश्यक हो गया। फलस्वरूप, उसने दापा के शासक काकवामोर पर चढ़ाई कर उसे पराजित किया। आगे बढ़कर उसने छपराङ् के शासक के प्रासाद से सुन्दर स्वर्ण कलशों को छीन लिया। सन्धि-शर्तों के अनुसार, काकुवामोर से वार्षिक कर रूप में सवा सेर स्वर्ण एवं एक चौसिंग्या मेढ़ा नियत किया तथा भविष्य में गढ़ पर लूटपाट न करने का प्रतिज्ञापत्र भी प्राप्त कर लिया। प्रतिज्ञापत्र प्राप्तकर वह लौट आया, और उसने उन स्वर्णकलशों को गौरीमठ में समर्पित कर दिया (*रामायणप्रदीप*, १.२६-२७)। जीतू बगड्वाल के पँवाड़े के अनुसार, मानशाह ने जीतू को भोट का 'फौंदार' नियुक्त किया था। दक्षिण में, मानशाह द्वारा गढ़राज्य की सीमा नगीना तथा हरिद्वार

---

२०. बैकेट सूची (एटकिन्सन, *हि०डि०, खण्ड* २, पृ० ४४६), *गढवाल राज्ञां वंशावलि:*, श्लोक ६७, विजयराम शर्मा (पृ० ३७-३६) तथा हरिकृष्ण रतूड़ी (पृ० ३६०-३६२) के इतिहासों में प्रदत्त वंशावलियाँ.

२१. मात्र *मानोदयकाव्य* की प्रकाशित प्रति में मानशाह को सहजपाल का पुत्र बताया गया है। ऐसा विदित होता है कि श्री शम्भुप्रसाद बहुगुणा ने *मानोदय* की किसी अपूर्ण प्रति का प्रकाशन किया। क्योंकि प्रकाशित प्रति में प्रथम सर्ग में अजयपाल के पूर्ववर्ती वे श्लोक नहीं हैं जो अन्य मूल प्रतियों में मिले हैं और डॉ० लखेड़ा ने भी *वसुधारा* (१६८१ ई०) में उद्धृत किये हैं। अस्तु, मेरे विचार से, प्रकाशित प्रति में प्रथम सर्ग के १२वें श्लोक से पूर्व वे श्लोक भी विलुप्त हैं जिनमें बलरामशाह का नाम आया होगा.

Scanned by CamScanner

से आगे मंगलोर तक बढ़ाने का उल्लेख देवराज कवि तथा ह० रतूड़ी ने किया है। परन्तु इसकी सत्यता संदिग्ध प्रतीत होती है। यह भी कहा जाता है कि शत्रु का पीछा करते हुए उसकी दृष्टि नाहन की ड्योढ़ी पर पड़ी।[२२] कदाचित् पश्चिमी पड़ोसी राज्यों बिशेहर, सिरमौर से भी मानशाह की झड़पें हुई हों। किन्तु आगे पश्चिमी पड़ोसियों ने कभी उसके सामने सिर उठाने का साहस नहीं किया।

गढ़-कुमाऊँ नरेशों के मध्य झड़पों का क्रम चन्द राजा रुद्रचन्द के शासनकाल से आरम्भ हो चुका था। तत्पुत्र लक्ष्मीचन्द ने प्राय: १५६७ से १६०२ ई० तक छ: बार गढ़राज्य पर आक्रमण किये। परन्तु उसे सदैव पराजय ही मिली। उसका सातवाँ आक्रमण पैनोगढ़ पर हुआ था। 'पयनुदुर्ग' के युद्ध का वर्णन *मानोदयकाव्य* के अन्तिम दो सर्गों में वर्णित है। इस युद्ध में भी उसकी पराजय हुई और उसके दो सेनानायक मारे गये। *मानोदयकाव्य* तथा पँवाड़ा के अनुसार, मानशाह की सेना चन्दों की मूल राजधानी चम्पावती तक पहुँची और वहाँ भी कुमाउँनी सेना की हार हुई। आठवीं बार के आक्रमण में, जो कदाचित् १६०५ ई० में हुआ, लक्ष्मीचन्द को गढ़राज्य के सीमान्त गाँवों में लूटमार कर सकुशल अलमोड़ा लौटने में सफलता मिली थी। इस युद्ध में गढ़-सेनानायक खतड़सिंह मारा गया था। उसी विजयोत्सव को कुमाऊँ में 'खतड़वा' कहते हैं। इतिहासकारों का यह कथन समुचित है कि, "ऐतिहासिक दृष्टि से 'खतड़वा', सात बार हारकर, अन्त में छोटी-सी विजय प्राप्त करनेवाले राजा द्वारा आरम्भ किया गया विजयोत्सव है।" वस्तुत: दोनों राज्यों की इन झड़पों में कोई भी दूसरे राज्य के किसी भाग पर अधिकार नहीं कर सका। ये मात्र सीमान्त पर हुईं झड़पें थीं।

इस काल में मुगल दरबार तथा गढ़-नरेशों के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहे। जबकि *जहाँगीरनामा* के अनुसार, चन्द राजा रुद्रचन्द तथा लक्ष्मीचन्द दोनों शाही दरबार में उपस्थित हुए थे, परन्तु महाराजा मानशाह के मुगल दरबार में उपस्थित होने का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। समकालीन मुगल विवरणों की छानबीन कर आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव ने लिखा है कि, "सहजपाल, बलरामशाह, मानशाह गढ़-नरेशों का अकबर के साथ मैत्रीपूर्ण दौत्य सम्बन्ध था। वैसे, ये नरेश, अकबर के अधीन नहीं, पूर्णत: स्वतन्त्र थे।"[२३]

२२. शर्मा, विजयराम, *गढ़वाल राज्य का इतिहास*, पृ० ४१.
२३. श्रीवास्तव, आ०ला०; *अकबर दॅ ग्रेट*, खण्ड २, आगरा, १९६२, पृ० २३२.

नीतिमान् नरेश मानशाह के यश:-प्रताप का, वैभवशाली राजधानी मानपुर (श्रीनगर) का, उसकी राजसभा तथा विजयों का वर्णन *मानोदयकाव्य*[२४] में मिलता है। समकालीन रचना होने से यह उसके शासनकाल के लिए प्रामाणिक स्रोत है। इस काव्य का कर्ता भरत उसका राजकवि था, और कुछ काल जहाँगीर का ज्योतिषी भी। जहाँगीर ने उसे 'ज्योतिकराय' की उपाधि दी थी।[२५] मानशाह ने अपने अतुल पराक्रम से राज्य की सीमाएँ निरापद रखीं जिससे प्रजा सुखी थी। उसके राज्यकाल में आये यूरोपीय यात्री वि० फिंच ने "अत्यन्त धनी एवं शक्तिशाली राजा मानशाह" का उल्लेख अपने यात्रा-वृत्तान्त[२६] में किया है।

मानशाह की मृत्यु १६११ ई० के आस-पास हो गयी।

महाराजा श्यामशाह (१६११-१६३१ ई०)

महाराजा मानशाह का पुत्र तथा उत्तराधिकारी श्यामशाह इस राजवंश का ४४वाँ राजा हुआ। उसका नाम मेधाकर तथा देवराज ने 'सामसाह' तथा शंकर गुरु ने 'श्यामशाह' लिखा है। मानशाह के देहान्तोपरान्त, भोट राजा काकुवामोर ने कर देना बन्द कर दिया था। उत्तरी सीमान्त पर दापा के लुटेरे पुन: छापा मारने लगे थे। श्यामशाह ने उस पर चढ़ाई कर उसे पराजित कर लिया। पूर्वकाल से नियतकर के साथ, प्रतिवर्ष एक चँवरीगाय अधिक नियत की गयी। छपराङ् पर उसका दूसरा आक्रमण तीन गिरिद्वारों से हुआ, परन्तु भीषण हिम-तूफान आने से यह अभियान असफल रहा। इस आक्रमण की तिथि जेसुएट अन्द्रादे ने अक्टूबर १६२४ दी है। वेजेल्स के अनुसार, इस द्वितीय आक्रमण के समय जेसुएट पादरी

२४. श्री श०प्र० बहुगुणा के *विराट हृदय* में ***मानोदय*** का मूल पाठ प्रकाशित है (लखनऊ, १९५०, पृ० २००-२१४)। हम पूर्व बता चुके हैं कि यह पाठ ***मानोदय*** की किसी अपूर्ण प्रति पर आधारित है। इसमें सर्गान्त में लिखा है—"ज्योतिरायोपनाम भरथ विरचिते"। भरत ज्योतिकराय-कृत *मानोदय* का उद्धार उसके वंशज मेधाकर शर्मा ने मानशाह के १२८ वर्ष के पश्चात् किया.
२५. *जहाँगीरनामा*, हिन्दी अनु० : मुंशी देवी प्रसाद का 'जहाँगीरनामा', कलकत्ता, १९०६ तथा बृजरत्न दास का 'जहाँगीर का आत्मचरित', ना०प्र० सभा, काशी, १९५७.
२६. फोस्टर, डब्ल्यू०, दॅ ऑर्लि *ट्रेवॅलर्स इन इंडिया* (१५८३-१६१९), आक्स० यूनी० प्रेस, लन्दन, १९२१, पृ० १००.

Scanned by CamScanner

अन्तोनियो अन्द्रादे माणा गाँव में था।[27] श्यामशाह के समकालीन कुमाऊँ नरेश लक्ष्मीचन्द तथा तत्पुत्र त्रिमलचन्द (१६२५-३८) थे। त्रिमलचन्द दरबारी षड्यन्त्रों में असफल होने पर प्राण-रक्षार्थ श्यामशाह की शरण में रहा। तदन्तर श्यामशाह ने राज्य-प्राप्ति में भी उसकी सहायता की। देवराज के अनुसार, उसने शत्रुओं को विजितकर दक्षिण में मंगलौर नगर को अपनी सीमा बनाया (श्लोक १०२)।

बादशाह जहाँगीर से श्यामशाह के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहे। *तुजुक-इ-जहाँगीरी* के अनुसार, "राजा श्यामसिंह जमींदार श्रीनगर को एक घोड़ा और एक हाथी दिया गया।"[28] जहाँगीर ने यह भेंट उसे आगरा में वैशाख १६७८ वि० (अप्रैल १६२१) में दी थी।

उसके भ्राता का नाम धामशाह था जिसने राजकार्य में राजा की बहुत सहायता की। ह० रतूड़ी ने श्यामशाह के राज्यकाल की अन्तिम तिथि १६२६ ई० दी है। परन्तु पादरी अजेवेदो (Azevedo) ने ३० जुलाई १६३१ ई० को श्रीनगर में गढ़ नरेश का दाहसंस्कार देखा था।[29] उसके द्वारा नरेश का नामोल्लेख न होने पर भी, वह असंदिग्धत: श्यामशाह ही था। *रामायणप्रदीप* (१.२७) के अनुसार, श्यामशाह सन्तान-विहीन मरा था। ह० रतूड़ी भी यही बताते हैं (*ग०इ०*, पृ० ३८२)।

राजधानी में श्यामशाह का बनाया 'सामासाही बागान' प्रसिद्ध था। सिलसारी-दानपत्र (वि०सं० १६७२) में उसके द्वारा भूमिदान का उल्लेख है, तथा साक्षी रूप में शङ्कर गुरु का नाम भी आया है। उसकी आज्ञा से इन्हीं शङ्कर गुरु ने वि०सं० १६७७ में '*वास्तुशिरोमणि*' ग्रन्थ की रचना की। मोलाराम ने अपने *गढ़राजवंश इतिहास* में श्यामशाह के गुणों का इस प्रकार वर्णन किया है:—

२७. 'C' Wessels, *ऑर्लि जेसुएट ट्रेवॅलर्स इन सेन्ट्रॅल एशिया* (१६०३-१७२१), १६२४, पृ० ६५-६७; *जॅ०ए०सो०बं०*, न्यू सिरीज, खण्ड २१, १६२५ तथा मैक्लागन, एडवर्ड, *दॅ जेसुएट्स एण्ड दॅ ग्रेट मुगल्स*, लन्दन, १६३२, पृ० ३४५.

२८. *दॅ तुजुक-इ-जहाँगीरी*, Henry Beveridge द्वारा सम्पादित, A. Rogers द्वारा अनु०, पृ० २०२.

२९. वेजेल्स, *पूर्वोक्त*, पृ० ६५.

सब कौं देहि दच्छिणा नित ही। परजा सौं राखै अनहित नहीं।।
गुनिजन रहैं सभी तहँ राजी। पावैं कविजन कुंजर बाजी।।
रीझ खीज समता दोइ राखै। बिन विवेक मुख वचन न भाखै।।
या बिद बहु चिर राजहि कीन्यो। पूर्ण चन्द सम सब नैं चीन्यो।।

श्यामशाह के सम्बन्ध में एक लोकोक्ति है—"श्यामसाही कोलाईं सामी तो सामी बाँगी तो बाँगी"। इस आधार पर, इस राजा को "स्वेच्छाचारी एवं घमण्डी" कहना उचित नहीं है।

श्यामशाह के राज्यकाल में, पुराने श्रीनगर के सबसे बड़े मन्दिर 'केसोराइमठ' का निर्माण हुआ। इसके द्वार पर यह लेख उत्कीर्ण है—"श्री साके १५४७ संवत् १६८२ राज वैस्यीयो केसोराइ को मठ म [हीपतिसाही"....]। लेख में महीपतिसाही का नाम आने से एटकिन्सन ने महीपतिशाह की तिथि १६२५ ई० मानी थी। किन्तु वास्तविकता यह है कि श्यामशाह के राज्यकाल में ही, महीपतिशाह ने, जो परिवार में श्रेष्ठ थे तथा कदाचित् उच्च राजपद पर भी थे, इस मन्दिर का निर्माण किया था। अस्तु १६२५ ई० में महीपतिसाही राजा नहीं थे। देवलगढ़ सत्यनाथ मन्दिर भित्ति-लेख इसी काल का है। इस लेख के अनुसार, संवत् १६८३ (१६२६ ई०) में प्रभातनाथ पीर ने सत्यनाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार कर भण्डारा किया था।

महाराजा महीपतिशाह (१६३१ से १६३४ ई०)

श्यामशाह के पश्चात् उसका चाचा महीपतिशाह राज्य का उत्तराधिकारी हुआ जो ४८ वर्ष की अवस्था में सिंहासन पर बैठा। महीपतिशाह की राज्यारोहण-तिथि विवादग्रस्त है। ह० रतूड़ी ने उसकी राज्यारोहण-तिथि १६२६ ई० तथा शि० डबराल ने १६३१ ई० दी है। वैमत्य का एक मुख्य कारण 'महिपतिशाही' नामाङ्कित वि०सं० १६८२ (१६२५ ई०) का केसोराई मठ श्रीनगर का खण्डित लेख भी है। इस लेख से दो सम्भावनाएँ हो सकती हैं : या तो महीपतिशाह १६२५ ई० या उससे कुछ पूर्व ही सिंहासनारूढ हो चुका था। अथवा श्यामशाह के शासनकाल में ही उसने केसोराई मठ बनवाया, क्योंकि किसी नरेश के अधीन उसके राजनकों, राजामात्यों तथा प्रमुख सहायकों द्वारा देवालय-निर्माण के बहुश: उदाहरण हमें इतिहास में मिलते हैं। लेख खण्डित होने से उसका वास्तविक आशय प्रकट नहीं होता। राजपरिवार में ज्येष्ठ होने के कारण, महीपतिशाह की १६२५ ई० से ही शासन-प्रबन्ध में महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

Scanned by CamScanner

डबराल के अनुसार, १६३१ ई० में वह बालक दुलाराम के संरक्षक के रूप में शासन करने लगा था। दूसरी सम्भावना को मानते हुए, हमारा मत है कि श्यामशाह की मृत्यु के पश्चात् महीपतिशाह १६३१ में सिंहासनारूढ हुआ।

मोलाराम ने लिखा है—"**दुलोरामसा राजा भयो। स्यामसाह जब स्वर्गहिं गयो।।**" अलमोड़ा-सूची (एट०, *खण्ड* २, पृ० ४४७) में भी, एक संदिग्ध लेख के आधार पर, सामसाह के पश्चात् दुलारामशाह का नाम आया है। किन्तु समस्त साक्ष्यों की समीक्षोपरान्त, हमारा मत है कि दुलाराम ने शासन नहीं किया। वह अवयस्क अवस्था में ही मर गया था। इसीलिए *रामायणप्रदीप* तथा रतूड़ी के इतिहास में श्यामशाह को निस्सन्तान बताया गया है।

नीति-घाट के उत्तरी क्षेत्र में स्थित दापा के गढ़पतियों के छापे गढ़वाल पर इस काल में भी होते रहे। अस्तु अपने वीर सेनानायक लोदी रिखोला के साथ महीपतिशाह ने विशाल सेना लेकर **दापा पर आक्रमण** कर दिया। दापा का गढ़पति युद्ध में मारा गया। दापा-गढ़ तथा वहाँ के बौद्ध विहार पर गढ़वाली सेना का अधिकार हो गया। थोलिङ् के समीप से बहती सतलज को गढ़वाल की सीमा निर्धारित किया गया। विजित प्रदेश पर अधिकार सुदृढ़ रखने हेतु, भीमसेन (भीमसिंह) बर्त्वाल को वहाँ गढ़वाली सेना का सेनानायक तथा उसके भ्राता को दापा ठकुराई का प्रशासक नियुक्तकर महीपतिशाह श्रीनगर लौट आया। पँवारवंशी ये बर्त्वाल बन्धु रडुवा के निवासी थे। महीपतिशाह की दूसरी पत्नी भी बर्त्वाली थीं। किन्तु, कालान्तर में, लाशा से सहायता मिलने पर दापा-दुर्ग पुन: तिब्बतियों ने ले लिया। इस द्वितीय युद्ध में समस्त गढ़वाली सेना काट डाली गयी तथा बर्त्वाल-बन्धु वीरतापूर्वक युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। उनकी तलवारें आज भी दापा विहार में विजय-स्मारक के रूप में सुरक्षित हैं और बुद्धमूर्ति के साथ उन तलवारों की भी पूजा होती है। कुछ काल पश्चात्, महीपतिशाह ने सेनानायक माधोसिंह भण्डारी को दापा-अभियान पर भेजा। उसकी सफलता पूर्व इतिहासकारों के इस कथन से सिद्ध होती है कि, "माधोसिंह ने तिब्बत के साथ भी गढ़वाल की सीमा को ठीक किया। उसके बनवाये हुए चबूतरे (भोट-सीमान्त पर) अब भी पाये जाते हैं।"

गढ़राज्य की पश्चिमी सीमा सतलज तक विस्तृत करने के लिए, महीपतिशाह ने अपने सेनानायक माधोसिंह भण्डारी को **बिशहर पर आक्रमण** करने हेतु

भेजा। रतूड़ी के अनुसार, बिशहर पर आक्रमण के समय माधोसिंह भण्डारी की मृत्यु हुई थी। राहुल ने भी लिखा है कि, "माधवसिंह को सतलज-तट पर चिनी पहुँचकर बिशैर (रामपुर) के राजा उदयसिंह या बिज्जासिंह के प्रतिरोध से भी अधिक घातक सेना का सामना करना पड़ा।"[३०] किन्तु इस आक्रमण के समय उसकी मृत्यु नहीं हुई थी, वह गम्भीर रूप से आहत हुआ था। महाराणी कर्णावती के वि०सं० १६६७ कार्तिक (१६४० ई०) के *हाट ताम्रपत्र-लेख* में उसका नाम साक्षी रूप में मिलता है।

माधोसिंह भण्डारी गढ़देश का अत्यन्त सम्माननीय ऐतिहासिक वीर पुरुष था। वह महीपतिशाह का प्रख्यात सेनापति एवं अमात्य था। राणी कर्णावती तथा तत्पुत्र पृथ्वीपतिशाह के काल में भी वह गढ़वाली सेना का नायक था। उस वीर पुरुष ने लोक हितार्थ पहाड़ी के अन्दर सुरंग काटकर 'मलेथा की कूल' का निर्माण किया और कूल की सफलता के लिए अपने पुत्र की बलि दी। उसकी ख्याति आज गढ़वाल में गायी जाती है। उसकी वीरता के सम्बन्ध में यह छन्द प्रसिद्ध है—

> **एक सिंह रैन्द बण, एक सिंह गाइ का।**
> **एक सिंह माधोसिंह, और सिंह काहे का?**

श्रीरघुनाथ मन्दिर देवप्रयाग के द्वार-रजतपत्र अभिलेख (वि०सं० १७३१ वैशाख) में उसके द्वितीय पुत्र गजेसिंह, उसकी पत्नी मथुरा बौराणी तथा पौत्र अमरसिंह का उल्लेख मिलता है।

हम जानते हैं कि लोदी रिखोला महीपतिशाह का ख्यातनामा सेनानायक था जिसने दापा-युद्ध में भोट-सेना को बुरी तरह पराजित किया था। तत्पश्चात् उसे **दक्षिणी सीमा की रक्षा** का भार सौंपा गया। लोदी ने भाभर प्रदेश में घुसकर लूटपाट करनेवाले लुटेरों का दमन किया। तदन्तर उसे दून की पश्चिमी सीमा को ठीक करने के लिए भेजा गया। लोदी ने सिरमौर के कुछ प्रमुख गढ़ों पर अधिकार कर लिया, और दून में आकर लूट-पाट करनेवाले लुटेरों का ऐसा दमन किया कि महीपतिशाह के शासनकाल तक पश्चिम से कोई उत्पात नहीं हुए। इस अवधि में, सिरमौर-नरेश कर्मप्रकाश (१६१६-३० ई०) लोदी द्वारा विजित गढ़ों

---

३०. राहुल, *हिमालय-परिचय (१)*, पृ० १३६.

Scanned by CamScanner

पर अधिकार न कर सका। भक्तदर्शन ने भी लिखा है कि, लोदी रिखोला ने अपनी वीरता-रणकुशलता के द्वारा सिरमोरी लुटेरों के दाँत खट्टे कर दिये। उसने उन्हें गढ़वाल की सीमा से बाहर तो खदेड़ा ही, पर साथ ही सिरमौर की सीमा के अन्दर घुसकर उनका बुरी तरह दमन भी किया।[३१]

महीपतिशाह का समकालीन कुमाऊँ-नरेश त्रिमल्लचन्द था जिसे महीपतिशाह ने आश्रय ही नहीं दिया था, अपितु राजसिंहासन पर पुनर्स्थापित भी किया था। **कुमाऊँ-अभियान** में, इसी कुमाऊँ-नरेश से महीपतिशाह का युद्ध हुआ! *गढ़राजवंशकाव्य* के अनुसार, इस अभियान का समाचार सुनकर त्रिमल्लचन्द ने अपने वकील के हाथ जो पत्र भेजा था उसमें इस प्रकार निवेदन था—

> **तुमरो दियो राज हम पायो। निमक तुहरो हमने खायो।।**
> **तुमरौ करि चाकरी हम आये। तब कूर्मांचल राजहि पाये।।**

गढ़राजवंशकाव्य में त्रिमल्लचन्द के साथ हुए युद्ध का जो 'कारण' बताया गया है, वह एक रोचक कहानी मानी जा सकती है, परन्तु विश्वसनीय नहीं। ब० पाण्डे ने इस युद्ध का वर्णन नहीं किया है। *गढ़वाल राज्ञां वंशावलि:* (श्लोक १०३), विजयराम शर्मा के इतिहास (पृ० ४२) तथा *गढ़वाल का ऐतिहासिक वृत्तान्त* में 'काकूवमोर-युद्ध' का वर्णन मिलता है। 'काकुवामोड़' स्थान गढ़राज्य की पूर्वी सीमा पर था। कवि देवराज तथा विजयराम शर्मा के अनुसार, इस युद्ध में महीपतिशाह की विजय हुई थी। किन्तु मोलाराम के अनुसार, युद्ध में महीपतिशाह को वीर गति प्राप्त हुई तथा सेनापति बनवाड़ीदास तुँवर भी अपने कुछ सैनिकों के साथ मारा गया। बनवाड़ीदास, चित्रकार श्यामदास-हरदास के परिवार का था और चित्रकार द्वय के श्रीनगर आने से पूर्व ही अपने १२०० सैनिकों के साथ दिल्ली से गढ़-नरेश के यहाँ सेवा करने लगा था। *मआसिर-उल्-उमरा* में उसके एक अन्य सेनापति का उल्लेख है जो राजमाता कर्णावती के काल तक सेवा में रहा।

स्वाभिमानी एवं पराक्रमी राजा महीपतिशाह शाहजहाँ के राज्याभिषेक (१६२८ ई०) में सम्मिलित नहीं हुआ था। उसके जीवन-पर्यन्त बादशाह उसे अधीन नहीं कर सका। इसी कारण मुस्लिम लेखकों ने उसे एक अक्खड़ राजा बताया। जेसुइट विवरणों से भी वह स्वतन्त्र राजा सिद्ध होता है। अपनी द्वितीय छपराङ्

३१. भक्तदर्शन, *गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ*, द्वि० संस्करण, पृ० ११६.

यात्रा के समय, अन्द्रादे ने जहाँगीर से जो आदेश प्राप्त किया था, राजा ने उसकी उपेक्षा की।[३२] वह एक शक्तिशाली राजा था जिसे अनुश्रुतियों में 'गर्व-भञ्जन' तथा मोलाराम द्वारा 'महाप्रचण्ड भुजदण्ड' कहा गया है। अपनी सुदृढ़ सेना तथा वीर सेनानायकों के बल पर उसने राज्य के सीमान्तों को स्थिर रखा तथा सीमावर्ती लुटेरों से प्रजा की रक्षा की।

डबराल के अनुसार, १६३५ ई० में महीपतिशाह की मृत्यु हो गयी। परन्तु पृथ्वीपतिशाह के देवप्रयाग उत्सवछत्री ताम्रपाट-अभिलेख संवत् १६९० मकर मास के आधार पर, महीपतिशाह की मृत्यु जनवरी १६३४ से कुछ पूर्व हुई होगी।

महाराजा पृथ्वीपतिशाह (१६३४-१६६४ ई०)

संरक्षिका राजमाता कर्णावती (१६३४-१६४० ई०) : १६३४ ई० में महीपतिशाह की मृत्यु के समय उसका पुत्र पृथ्वीपतिशाह अभी दस-ग्यारह वर्ष का अवयस्क ही था। अतएव राजमाता कर्णावती ने पुत्र की संरक्षिका के रूप में शासन-भार सँभाला। शाहजहाँ प्रचण्ड पराक्रमी महीपतिशाह को उसके जीवनकाल में अधीन नहीं कर सका था। वह गढ़-राज्य पर आक्रमण के लिए उचित अवसर की प्रतीक्षा में था। इस समय राजा की अवयस्क अवस्था, वीर माधोसिंह भण्डारी की वृद्धावस्था तथा पड़ोसी सिरमौर नरेश मान्धाता प्रकाश की गढ़राज्य से प्रतिशोध की प्रबल इच्छा को देखते हुए शाहजहाँ ने तुरन्त गढ़राज्य पर आक्रमण की योजना बना ली। *बादशाहनामा* के अनुसार, हिजरी १०४४ (१६३५ ई०) में श्रीनगर के राजा की मृत्यु का समाचार पाते ही नजावतखाँ ने गढ़राज्य पर आक्रमण किया था। *मआसिर-उल्-उमरा* के अनुसार भी यह आक्रमण शाहजहाँ के शासनकाल के नवें वर्ष में हुआ।[३३] स्पष्ट है कि महीपतिशाह का देहान्त १६३४ ई० में हुआ और १६३५ ई० में मुगल-आक्रमण के समय राजमाता संरक्षिका के रूप में शासन कर रही थी।

काँगड़ा के फौजदार नजावतखाँ की सेना के साथ सिरमौर नरेश मान्धाता-प्रकाश की सेना तथा स्वयं बादशाह द्वारा भेजी गयी सेना भी थी। परन्तु राजमाता

३२. मैक्लागन, सर एडवर्ड, *पूर्वोक्त*, पृ० ३४५.
३३. *बादशाहनामा*, ईलियट तथा डाउसन सम्पा०, *भा०इति०, खण्ड ७*; *मआसिर-उल्-उमरा*, ईलियट तथा डाउसन सम्पा०, *भा०इति०, खण्ड ३*.

Scanned by CamScanner

कर्णावती ने, जो 'नाक-काटी-राणी' (नाक काटने वाली रानी) के नाम से प्रसिद्ध थी, अपनी रणनीति तथा अदम्य साहस से मुगल सेना के आक्रमण को विफल ही नहीं किया, प्रत्युत उन्हें अपनी नाक काटने तथा भागने के लिए भी विवश किया। निकोलस मनूची (Niccolao Manucci), ट्रेवर्नियर तथा *मआसिर-उल्-उमरा*[३४] (मुगल दरबार) में, अल्प अन्तर के साथ, मुगलों की इस लज्जाजनक हार का वर्णन मिलता है। इस हार के कारण नजाबतखाँ को अपने मनसब पद तथा जागीर से हाथ धोना पड़ा। *मआसिर-उल्-उमरा* के अनुसार, मुगल सेना की यह पराजय श्रीनगर से ३० कोस दूरी पर हुई थी।

एटकिन्सन ने बिनसर (वीणेश्वर) मन्दिर के प्रसङ्ग में लिखा है कि यहाँ राणी कर्णावती के शत्रुओं को बिनसर देवता ने ओला-वृष्टि से विनष्ट कर दिया था। तब राणी ने देवता के नये शिखर का निर्माण किया।[३५] एटकिन्सन ने भ्रम से ड्यूल्ड (मवालस्यूँ) के विनसर को दूदातोली शिखर पर बताया। अपने सर्वेक्षण में, मुझे मवालस्यूँ विनसर की अनुश्रुति सत्य लगी। इस मन्दिर के समीप ही 'राणीहाट' नामक स्थान है जहाँ कर्णावती ने शिविर स्थापित किया था। विनसरिया पुजारियों ने मुझे बताया कि, विजयोपरान्त राणी ने देवता को स्वर्ण-छत्र चढ़ाया तथा मन्दिर को भूमिदान का ताम्रपत्र दिया। यह ताम्रपत्र मुझे प्राप्त नहीं हो सका। अतएव ताम्रपत्र के अभाव में यह कहना कठिन है कि पश्चिमी नयार-घाटी की ओर राणी का यह अभियान मुगल सेना की किसी टुकड़ी का पीछा करने हेतु हुआ, अथवा किसी पश्चिमी शत्रु के विरुद्ध।

परन्तु सन् १९७२ में हाट गाँव में मुझे राजमाता कर्णावती का वि०सं० १६९७ कार्तिक (१६४० ई०) का ताम्रपत्र प्राप्त हो गया। उस पर पृथ्वीपतिशाह की मुद्रा अङ्कित है। स्पष्टत: राजमाता उक्त तिथि को पृथ्वीपति की संरक्षिका थी। अपने गुणों एवं प्रजा-रञ्जन के कारण महाराणी अपने जीवनकाल में ही प्रजा-प्रिय हो चुकी थी। नाथपन्थी एवं तन्त्र-मन्त्र की साबरी पोथियों में "माता कर्णावती की आण", "महाराणी माता कर्णावती" का बहुवार वर्णन मिलता है। मुगल सेना पर

३४. मनूची, नि०, *Storia do Mogor* (मुगल भारत), १६५३-१७०८; वि० ईरविन द्वारा अनू०, खण्ड १, कलकत्ता, १९०७, पृ० २१५-१६; ट्रेवर्नियर, जीन ब०, ***ट्रेवॅल्स इन इंडिया***, खण्ड १, लन्दन, १८८९, पृ० ३६४; *मआसिर-उल्-उमरा*, सम्पा० ईलियट तथा डाउसन, *भा०इति०, खण्ड* ३, पृ० ४६२-६४.

३५. एटकिन्सन, *हि०डि०, खण्ड* २, पृ० ७७६.

विजयोपरान्त, १६३५ ई० में ही महाराणी ने दूण-घाटी पर पुन: अधिकार कर लिया। डा० शूरवीर सिंह पँवार के अनुसार, दूण की राजधानी 'नवादा' में राजमाता के राजभवन एवं बावड़ी के अवशेष अब तक विद्यमान हैं। राजमाता ने दूण में करणपुर गाँव बसाया तथा अपने राज्य में अनेक बावड़ियों एवं कुल्याओं का निर्माण किया।

बुद्धिमत्ता, रण-कुशलता तथा सुयोग्य शासिका के रूप में महाराणी कर्णावती की तुलना गोण्डवाना की संरक्षिका रानी दुर्गावती से की जा सकती है। रानी दुर्गावती १५६४ ई० में मुगल सेना के आसफखाँ से अपने राज्य की वीरतापूर्वक प्रतिरक्षा करती हुई सपुत्र रणक्षेत्र में वीरगति को प्राप्त हुई थी। दुर्गावती के सम्बन्ध में विं०ए० स्मिथ लिखता है—"ऐसी आर्दश-चरित्र रानी पर अकबर का आक्रमण अनुचिताभियान अग्रधर्षण था जिसका विजय और लूट के अतिरिक्त और कोई औचित्य नहीं था।" शान्त-एकान्त हिमालयी राज्य की आदर्श-चरित्र राणी कर्णावती पर भी शाहजहाँ का आक्रमण उसी प्रकार नैतिक औचित्य से शून्य था। परन्तु उसकी तेजस्विता रणक्षेत्र में दुर्गावती से अधिक सफल रूप से चमक उठी थी।

पृथ्वीपतिशाह का मुगलों से तनाव : वयस्क होने पर, १६४० ई० में पृथ्वीपतिशाह ने शासन-भार सँभाल लिया। सम्भवत: १६५० ई० से पूर्व ही मुगलों तथा पर्वतीय राज्य सिरमौर और कुमाऊँ से उसके सम्बन्ध तनावपूर्ण रहने लगे थे। पूर्व पराजय का प्रतिशोध लेने के लिए, शाहजहाँ ने १६५२ से १६५५ तक अपने फौजदारों के नेतृत्व में मुगल सेनाओं को गढ़राज्य पर आक्रमण के लिए भेजा। उसने पहले जम्मू-काँगड़ा के फौजदार ईरज खान को और आगे खलीलुल्ला खान को दस हजार सवार तथा दस हजार पैदल सेना के साथ 'मुल्क सिरीनगर' में दाखिल होकर उसे जीतने तथा नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए नियुक्त किया, और मान्धाता प्रकाश को उसकी सहायता करने को लिखा।[३६]

फलस्वरूप, दूण तथा भाभर प्रदेश का भीषण विनाश हुआ तथा वे मुगल अधिकार में आ गये। सर रिचर्ड बर्न ने गढ़-नरेश के विरुद्ध शाहजहाँ के तीन अभियानों का वर्णन किया है—(१) १६३५ ई० का अभियान जिसमें समस्त मुगल

३६. शाहजहाँ के १६५४ के इन दो फरमानों तथा औरंगजेब के फरमानों के लिए द्र०, राहुल-कृत *हिमाचल, खण्ड १*, १९६४, पृ० १८-.

सेना काट डाली गयी, (२) १६५४ ई० का अभियान अधिक सावधानी के साथ भेजा गया जिसमें दूण को रौंदकर लूटा गया था, और (३) १६५६ ई० के अभियान में राजा को अपना पुत्र अधीनता प्रदर्शन के रूप में दरबार में भेजना पड़ा।[३७] इनमें अन्तिम अभियान में पुत्र को दरबार में भेजने की बात, जैसा हम आगे देखेंगे, पूर्णतः मिथ्या है।

मुगलों से आगे अधिक तनावपूर्ण सम्बन्ध होने का कारण, पृथ्वीपतिशाह द्वारा, अपनी क्षत्रिय-परम्परानुकूल, १६५८ ई० में दारा शिकोह के पुत्र शाहजादा सुलेमान शिकोह को श्रीनगर में शरण देना था। वास्तव में, राजा ने मुगल शाहजादा के कारण, अपने राज्य एवं प्रजा दोनों को भीषण विपत्ति में फँसा दिया था। औरंगजेब की सहायता एवं प्रोत्साहन से रादखाँ तथा सिरमोरी सेना ने पश्चिम से, जम्मू के राजा राजस्वरूप की सेना ने उत्तर से, जोधपुर के राजा राजरूप ने दक्षिण से तथा चन्द राजा बाजबहादुर ने पूर्व की ओर से गढ़राज्य की सीमाओं को उजाड़ डाला। किन्तु पृथ्वीपतिशाह ने बादशाह औरंगजेब के कोप-भोजन बनने की तनिक भी चिन्ता नहीं की। बर्नियर के शब्दों में, उसका उत्तर था—(शाहजादा को सौंपने का) ऐसा अनुचित कृत्य करने की अपेक्षा वह अपने राज्य को गँवाने को तैयार है।[३८]

डबराल का मत है कि, "नवम्बर १६६० ई० में राज्य को और अधिक विपत्ति से बचाने के लिए कुँवर मेदिनीशाह ने राजसत्ता अपने हाथ में ले ली, और कुछ समय तक शासन अवश्य किया।"[३९] परन्तु, प्रतीत होता है कि युवराज ने सुलेमान शिकोह को बादशाह के हाथ सौंपने में पिता की इच्छा के विरुद्ध मात्र षड्यन्त्र में भाग लिया था। मनूची (१९०७, पृ० ३८१) के अनुसार, "श्रीनगर का वृद्ध राजा अपने पुत्र के नीच कर्म से अत्यन्त व्यथित हुआ था।" अस्तु, शरणागत मुगल शाहजादा को युवराज मेदनीशाह द्वारा औरंगजेब को सुपुर्द करने से दुःखित, वचनबद्ध पृथ्वीपतिशाह ने पुत्र को उत्तराधिकार से वञ्चित कर दिया। युवराज को आगे अपना जीवन मुगल दरबार में बिताना पड़ा। वहीं १६६१ ई० में उसकी

३७. वर्न, रि० ***कैम्ब्रिज हिस्टॅरि ऑव् इंडिया, खण्ड ४***, १९५७ संस्क०, दिल्ली, पृ० २०७.

३८. बर्नियर, फ्रैं०, ***ट्रेवॅल्स इन दें मुगल एम्पाइर*** (१६५६-५८), १९१४, पृ० ६२-६३. सरकार, ज०, *हिस्टॅरि ऑव् औरंगजेब*, खण्ड २, पृ० २३३ भी देखिए.

३९. *गढ़वाल का नवीन इतिहास*, खण्ड २, सं० २०४४, पृ० ६२, ६४.

मृत्यु हुई। डा० शूरवीरसिंह पँवार भी मेदिनीशाह द्वारा राज करने की बात असत्य मानते हैं—"महाराजा पृथ्वीपतिशाह ने अपने जीवनकाल में ही अपने पौत्र फतेपतिशाह का राज्याभिषेक कर उसे गढ़वाल नरेश घोषित कर दिया।"[४०] क्योंकि कुँवर मेदिनीशाह को वह पूर्व ही गढ़वाल से निर्वासित कर चुका था।

पृथ्वीपतिशाह द्वारा **पश्चिमी अभियान** का उल्लेख पूर्व लेखकों द्वारा हुआ है। कवि देवराज (श्लोक १०४) में सर्वप्रथम इस अनुश्रुति का उल्लेख है। विजयराम शर्मा (पृ० ४३) द्वारा उसके शतरुद्रा के पार कुल्लू की धार पर राज्य करने, तथा ह० रतूड़ी (पृ० ३८२) द्वारा पश्चिम में हाटकोटी को सीमा नियत करने के उल्लेख मिलते हैं।

पौत्र की बाल्यावस्था में, पृथ्वीपतिशाह ने १६६४ से १६६८ ई० तक उसके 'संरक्षक' के रूप में शासन किया।

पृथ्वीपतिशाह का अन्तिम ताम्रपत्र-लेख वि०सं० १७२४ (१६६७ ई०) का प्राप्त है। अतएव वह इस तिथि तक जीवित था। कदाचित् १६६८ ई० में वह स्वर्गवासी हुआ। सुलेमान शिकोह को गढ़राज्य में शरण देने से यह तथ्य प्रकट होता है कि वह पूर्ण स्वतन्त्र राजा था। शरणागत शाहजादा का सम्पूर्ण प्रकरण उसकी वचनबद्धता, धर्म-सहिष्णुता एवं वीरता का उज्ज्वल उदाहरण है। उसकी धार्मिक प्रवृत्ति उसके बहुसंख्यक ताम्रपत्रों एवं शासनादेशों से प्रकट होती है (द्र०, परिशिष्ट ३)। वह निर्माता तथा कलानुरागी भी था। दिल्ली से आये चित्रकार श्यामदास तथा हरदास को उसने आश्रय दिया। दूण-घाटी में 'पृथ्वीपुर' नगर बसाया और वहाँ एक दुर्ग भी निर्मित किया। इनके ध्वंसावशेष आज भी वहाँ विद्यमान हैं। *गढ़राज्य राज्य का इतिहास* (पृ० ४३) के अनुसार, राजा ने शासन की सुविधार्थ रवाईं में गढ़वाल गढ़ी या 'राजगढ़ी' को अपनी द्वितीय राजधानी बनाया तथा अपने पुत्र **दिलीपतशाह** को वहाँ का शासक नियुक्त किया। पृथ्वीपतिशाह के नौ पुत्र बताये जाते हैं जिनमें से एक **अजबू कुँवर** भी था।[४०क]

४०. पँवार सम्पादित ***गढपरिवृढ वंशवैजयन्ती*** *(गढवाल राज्ञां वंशावलिः)*, १९९६, भूमिका, पृ० २७.

४०क. ***टिहरी राज्य अभिलेखागार पञ्जी सं० ४***, टिहरी, पृ० ४६२-६४.

महाराजा फतेपतिशाह (*प्राय: १६६४-६५—१७१६ ई०*)

राज्यारोहण : परमार वंशावलियों का ४६वाँ राजा फतेपतिशाह एक प्रख्यात नरेश हुआ। समकालीन रचना *फतेहशाहकरण* ज्योतिष ग्रन्थ में फतेपति का जन्म शाके १५७८ (१६५६ ई०) में बताया गया है। १६६८ ई० में उसके पितामह की मृत्यु हो गयी। अतएव पितामह की मृत्यु के समय फतेपतिशाह बारह वर्ष का अवयस्क बालक था, और तब तक अपने पितामह के 'संरक्षण' में था। यह फतेपतिशाह के संवत् १७२४ जेष्ठ तथा सं० १७२५ मंगसीर (१६६७, १६६८ ई०) के उन प्रारम्भिक दानलेखों से भी प्रकट होता है जिन पर पृथ्वीपतिशाह की राजमुद्रा अङ्कित है। उक्त दो दानपत्रों से यह भी प्रकट होता है कि उसका 'राज्यारोहण' १६६७ ई० से पूर्व हो चुका था। कदाचित् १६६४-६५ में उसका राज्यारोहण हुआ। इस प्रकार, वह १६६४ से १६६८ तक पितामह के संरक्षण में था और आगे राजमाताओं के संरक्षण में। ह० रतूड़ी के अनुसार, राजमाता कटौची उसकी संरक्षिका थी जो काँगड़ा के राजा की पुत्री थी।[४१] *गढ़वाल का ऐतिहासिक वृतान्त* में, सिरमोरी तथा बर्त्वाली राजमाताओं का उसकी संरक्षिका होने का उल्लेख है।[४२] फतेपतिशाह के श्रीसंवत् १७२७ (१६७० ई०) के ताम्रपत्र से तो विदित होता है कि उसने १६७० ई० में राज्य-भार सँभाल लिया। परन्तु १४ वर्ष की अवस्था में राज्य-भार सँभालने की परम्परा यहाँ नहीं रही।

ह० रतूड़ी का कथन है कि राजमाता कटौची के संरक्षण-काल में हरक सिंह कटोच के पाँच पुत्रों ने प्रजा पर अपूर्व अत्याचार किये। दूसरी ओर, *गढ़वाल का ऐतिहासिक वृतान्त* तथा रेपर (१८०३ ई०) का वृतान्त उन पञ्च भ्राताओं को दूसरे के पुत्र बताते हैं। दोनों अनुश्रुतियों के अनुसार, पञ्च भ्राताओं की हत्या हुई है। परन्तु वे कौन थे? वे वास्तविक रूप से अत्याचारी थे अथवा दरबारी षड्यन्त्रों के शिकार हुए? यह घटना फतेपतिशाह की अवयस्क अवस्था में हुई अथवा पीछे? इन प्रश्नों का उत्तर काल के अन्धकार में छिपा है।

युद्ध अभियान : गढवाल राज्ञां वंशावलि: (श्लोक ११५) में इस राजा को 'वीर फतेसाह' नाम से प्रसिद्ध बताया गया है। शुकदेव मिश्र के *वृत्तविचार* में भी उसके शौर्य की प्रशंसा की गयी है। वास्तव में, वह अपनी राज्य-सीमाओं की

४१. रतूड़ी, ह०, *गढ़वाल का इतिहास*, पृ० ३६३.

४२. *टिहरी राज्य अभिलेखागार पञ्जी सं० ४*, पृ० ६-१०.

सुरक्षा एवं विस्तार के लिए जीवन पर्यन्त युद्ध स्थलों में संघर्षरत रहा। फतेपतिशाह द्वारा पश्चिमी हूणदेश के निघन राज्य (दाबा) पर सफल आक्रमण का उल्लेख सभी इतिहासकारों[४३] ने किया है। दाबा के राजा को करद बनाया गया। कहते हैं, दाबा विहार में उसकी बन्दूक, तलवार, कवच तथा शिरस्त्राण सुरक्षित रखे गये थे।

कुमाऊँ के राजा उद्योतचन्द (१६७८-), ज्ञानचन्द[४४] (१६६८-) तथा जगतचन्द (१७०८-२०) और गढ़नरेश फतेपतिशाह के मध्य १६७८ ई० से प्राय: तीन दशक तक अनवरत युद्ध होते रहे। कभी सीमाओं की रक्षा के लिए तो कभी राज्य-विस्तार के लिए। कभी एक की विजय होती तो कभी दूसरे की। १७१० ई० में कुमाऊँ पर आक्रमण कर फतेपतिशाह ने बैजनाथ तक का क्षेत्र विजित कर लिया था। बधाण सीमान्त के पदाधिकारी को सम्बोधित फतेपतिशाह के एक ताम्रपत्र-लेख के अनुसार, जिसका उल्लेख एटकिन्सन (*हि०डि०*, २, पृ० ५७३) ने भी किया है, विजय के उपरान्त, उसने १७१० ई० में पट्टी कत्यूर का गड़सार गाँव श्रीबदरीनाथ मन्दिर को दान दिया था। आज तक यह गाँव श्रीबदरीनाथ को समर्पित है। इससे प्रकट होता है कि कुमाऊँ के इस भाग पर उसका अधिकार लम्बे समय तक रहा।

फतेपतिशाह ने १६८५ ई० के आसपास सिरमौर राज्य पर आक्रमण कर वैराटगढ़ तथा कालसीगढ़ छीन लिये। पाँवटा तथा जौनसार क्षेत्र उसके अधिकार में आ गये। सिरमौर नरेश रुद्रप्रकाश के पराजित होने तथा करद बनने का उल्लेख पूर्व लेखकों ने किया है।[४५]

१६८५ ई० में ही सिरमौर नरेश मेदिनीप्रकाश ने गुरु गोविन्द सिंह को आमन्त्रित कर यमुना-तटस्थ पाँवटा में दुर्ग-निर्माण के लिए भूमि दी। यह स्थान गढ़वाल राज्य के सीमान्त पर, नाहन एवं गढ़वाल के मार्ग पर सामरिक महत्त्व का था। अतएव पाँवटा के समीप ही '**भंगाणी**' में गुरु तथा फतेपतिशाह का युद्ध

४३. हेमिल्टन, ***गजेटियर, II***, पृ० ६३६; एटकिन्सन, *हि०डि०*, दो, पृ० ५७३; शर्मा, वि०, ***गढ़वाल राज्य का इतिहास***, पृ० ५०, रतूड़ी, ह०, ***ग०इ०***, पृ० ३६६; ***फतेप्रकाश***, पृ० २.

४४. एटकिन्सन (१८८४, पृ० ५७२) का कथन है कि १७०७ ई० में ज्ञानचन्द ने अपने गढ़-अभियान में 'चान्दपुरगढ़' को भूमिसात कर दिया था। परन्तु १८६१ ई० में फूरर ने इस प्राचीन गढ़ को देखा था (**मा०ऐ०इं०**, खण्ड २, पृ० ४४).

४५. कवि देवराज (श्लोक ११७-२०); शर्मा०, वि०, ***पूर्वोक्त***, पृ० ५०; रतूड़ी, ह०, ***पूर्वोक्त***, पृ० ३६६.

Scanned by CamScanner

हुआ जिसका वर्णन *विचित्र नाटक* में हुआ है। *गुरु विलास* के अनुसार, यह युद्ध १६८६ ई० में हुआ। गुरु गोविन्द सिंह ने *विचित्र नाटक*[४६] में लिखा है कि "बिना कारण" फतेशाह ने हम पर यह आक्रमण किया–"**फतहशाह कोपा तब राजा। लौह परा हम सौं बिनु काजा।।**" परन्तु अपने सीमान्त पाँवटा में गुरु द्वारा आखेट के बहाने सैन्य अभ्यास को देखते हुए फतेपतिशाह को अपने राज्य की सुरक्षार्थ यह युद्ध करना पड़ा, जो आवश्यक था। युद्ध का परिणाम, रतूड़ी के अनुसार दोनों में सन्धि हो गयी। *विचित्रनाटक* तथा *दँ सिख रिव्यू* (खण्ड १४, १५ पृ० ५०) दोनों में गुरु द्वारा गढ़राज्य के किसी भाग को हस्तगत करने का उल्लेख नहीं है।

११०३ हि० (१६६२ ई०) में राजा ने दूण से सहारनपुर पर आक्रमण किया जो उस समय मुगल अधिकार में था। शाही सेना के सेनानायक ने बड़ी कठिनाई से सहारनपुर के पुण्डीर गुर्जर राजपूतों के सहयोग से उसे यहाँ से हटाया। *सहारनपुर मेम्वाइर* के आधार पर, जी०आर०सी० विलियम्स (पैरा १७४) तथा *ब्रिटिश गढ़वाल गजेटियर* (पृ० ११८) में वाल्टन ने भी इस घटना का उल्लेख किया है। फिर भी, मुगल बादशाह औरंगजेब से राजा के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहे।

डबराल की यह टिप्पणी सटीक है कि, "उसके कई युद्धों का उद्देश्य अपने राज्य के सीमान्त के गाँवों को सिरमौर, सहारनपुर एवं कुमाऊँ की ओर से पड़ने वाले छापों से बचाना था।"[४७]

विद्यानुरागी महान् राजा : फतेपतिशाह का साहित्य एवं कला-प्रेम, भक्तदर्शन के शब्दों में, "इन युद्ध-विवरणों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।"[४८] वि०सं० १७५७ में प्रचलित उसकी अष्टकोणी रजतमुद्रा उसकी हिन्दू सांस्कृतिक रुचि का जीवित प्रमाण है। कदाचित् समुद्रगुप्त के उपरान्त उसी ने छन्दबद्ध मुद्रालेख खुदवाया। "**गुणी जनानामिव कामधेनुः**" के रूप में प्रशंसित उस राजा के शासनकाल में ऐतिहासिक महत्त्व के अनेक ग्रन्थों की रचना हुई : (१) जटाधर-कृत '*फतेहसाहकरण-ग्रन्थ*' (जटाधरी), (२) रतन कवि-कृत '*फतेप्रकाश*', (३) कविराज शुकदेव मिश्र-कृत '*वृत्तविचार*', (४) मतिराम-कृत '*वृत्तकौमुदी*'

४६. मूल पाण्डुलिपि, पुराणा दरबार संग्रह, टिहरी, पृ० २६७; शिरोमणि गुरुद्वारा का हिन्दी रूपान्तर, पृ० ४४.

४७. डबराल, शि०, *पूर्वोक्त*, पृ० ११२.

४८. भक्तदर्शन, *गढ़०दि०वि०*, द्वि०संस्क०, पृ० ३६.

अर्थात् '*छन्दसार पिङ्गल*'[४९], (५) रामचन्द्र-कृत '*फतेहशाह यशोवर्णन*'। उसकी राजसभा के 'नवरत्नों' का उल्लेख अन्यत्र मिलता है। जटाधर, रतन कवि, मतिराम भी उसके आश्रित विद्वान् थे। '*वृत्तकौमुदी*' की रचना मतिराम द्वारा सं० १७५८ (१७०१ ई०) में तथा '*जटाधरी*' की रचना जटाधर द्वारा सं० १७६१ में की गयी थी। भूषण और मतिराम महाराजा की कीर्ति को सुनकर श्रीनगर उसकी राजसभा में आये थे। '*शिवराजभूषण*' (सं० १७३०) में भूषण का कुमाऊँ तथा गढ़वार राज्य श्रीनगर आने का उल्लेख है। मतिराम ने अपनी '*वृत्तकौमुदी में*' फतेशाह की अपने आश्रयदाताओं में गणना की है, और उसे महाराजा शिवाजी के समान दाता बताकर प्रशंसा की :–

दाता एक जैसो सिवराज भयो,
तैसो अब, फतेहसाहि सीनगर साहिबी समाज है।

उसके दान-दाता के रूप में प्रख्यात होने की पुष्टि उसके अनेक दानपत्र भी करते हैं (द्र०, परिशिष्ट ३)। कहते हैं, मतिराम ने अपना '*रसराज*' ग्रन्थ श्रीनगर में चित्रकार मंगतराम को समर्पित किया था। '*रसराज*' की पाण्डुलिपियाँ मैंने मंगतराम के वंशजों के पास तथा डा० पँवार के संग्रह में देखी हैं। मंगतराम तूँवर महाराजा का राज-चित्रकार था।

'*फतेप्रकाश*' में रतन कवि ने महाराजा फतेशाह को हिन्दुओं का रक्षक, शील का सागर, उदण्डों को दण्ड देनेवाला बताया है। इसमें महाराजा के 'सुजस', 'गढवार राज्य' तथा राजधानी 'श्रीनगर की शोभा' का भी आँखों देखा वर्णन मिलता है। महाराजा की राष्ट्रप्रेम की ख्याति सुनकर ही भूषण, मतिराम तथा नीलकण्ठ (जटाशङ्कर) ने गढ़राज्य की यात्रा की थी। सम्भवतः नीलकण्ठ की भाँति-रतन कवि भी अन्तिम समय तक महाराजा के आश्रय में रहा।

सिख गुरु रामराय को अपने राज्य में आश्रय देकर तथा दूण में गुरुद्वारा निर्माण के लिए तीन गाँव देकर महाराजा फतेपतिशाह ने अपनी उदारता का परिचय दिया। नाथपन्थ के प्रति भी उसकी बड़ी श्रद्धा थी जैसा कि सं० १७२४ के गोरखनाथ गुफा श्रीनगर के ताम्रपत्र-लेख तथा सं० १७७२ के एक शासनादेश से ज्ञात होता है।

४९. भगीरथ प्रसाद दीक्षित के अनुसार, जो 'छन्दसार पिङ्गल' है वही 'वृत्तकौमुदी' ग्रन्थ है (*मतिराम-ग्रन्थावली*, लखनऊ, वि०सं० १९८३, पृ० २२७).

फतेपतिशाह के शासनकाल में गढ़वाल समृद्ध था। राज्य में इतनी शान्ति एवं सुरक्षा थी कि, रतन कवि के अनुसार, लोग घरों में ताले नहीं लगाते थे– *"ना तो हमरे राज में घावत कौन किवार"*। डा० पँवार का यह कथन सटीक है कि, "फतेशाह ने छत्रपति शिवाजी को अपना आदर्श मानकर, उनकी नीति का अनुसरण करते हुए अपने राज्य का विस्तार किया था। फतेशाह के नेतृत्व में वीर गढ़वाली जाति के शौर्य का विस्तार उत्तरी भूखण्ड के एक बड़े भाग में, तिब्बत से लेकर शिवालिक की पहाड़ियों तक, फैला हुआ था।"[५०]

वास्तव में, जैसा डबराल का भी निष्कर्ष है, "अजेयपाल और मानशाह के पश्चात् फतेसाह को गढ़-राजवंश का तीसरा महान् राजा कहा जा सकता है।"[५१]

संवत् १७७२ पौष के पश्चात्, कदाचित् १७१६ ई० के प्रारम्भ में ही, फतेपतिशाह का देहान्त हो गया।

चित्र १५. महाराजा फतेपतिशाह.

५०. पँवार, शू० सिंह, सम्पा० *फतेप्रकाश*, प्रस्तावना, पृ० २. तु०, *गढपरिवृढ वंशवैजयन्ती*, भूमिका, पँवार सम्पा० १९८९, पृ० २९.

५१. डबराल, शि०प्र०, *गढ़वाल का नवीन इतिहास*, खण्ड २, पृ० ११३.

चित्र १६. महाराजा फतेपतिशाह की राजमुद्रा.

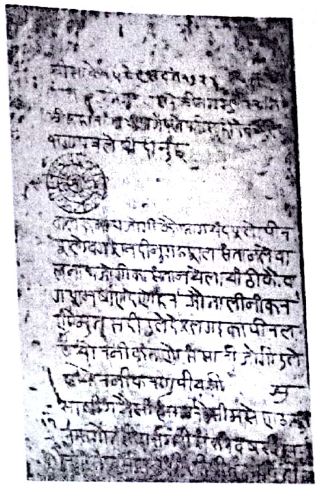

चित्र १७. महाराजा फतेपतिशाह का ताम्रपत्र, संवत् १७२४

उपेन्द्रशाह (१७१६ ई०)

परमार वंशावलियों तथा अन्य साक्ष्यों के अनुसार, फतेपतिशाह का उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र उपेन्द्रशाह हुआ। फतेपतिशाह के संवत् १७६३ के एक ताम्रपत्र-लेख में भी वही सब भ्राताओं में ज्येष्ठतम वर्णित है। संवत् १७६३ के ही एक शासनादेश पर लगी चतुष्कोण मुद्रा पर अङ्कित है : 'श्री महाराज फतेशाह कुमार उपेन्द्रशाह १७६२'। उपेन्द्रशाह ने अल्पकाल ही शासन किया, और २२ वर्ष की आयु में स्वर्गवासी हुआ। उसका एक चित्र अन्य पँवारवंशीय राजाओं के चित्रों के साथ पुराणा दरबार संग्रह में प्राप्त हुआ है। इससे भी उसके द्वारा राजपद प्राप्त करने की पुष्टि होती है।[५२] उपेन्द्रशाह के पश्चात् उसका अनुज दिलीपशाह राजसिंहासन पर बैठा। परन्तु एक-दो मास के पश्चात् ही मृत्यु को प्राप्त हो गया।

एटकिन्सन ने लिखा है कि फतेशाह का उत्तराधिकारी दिलीपशाह हुआ और दिलीपशाह का उपेन्द्रशाह।[५३] यह कथन मिथ्या है और हिन्दू राजाओं की

५२. रावत, अ०सिं०, *हिस्टॅरि ऑव् गढ़वाल*, १९८९, पृ० ६४, चित्र.

५३. एटकिन्सन, ई०टो०, *हि०डि०, खण्ड* २, पृ० ४४७, ५७४.

Scanned by CamScanner

उत्तराधिकार-परम्परा के भी विरुद्ध है। एटकिन्सन ने दिलीपशाह के १७१७ ई० के एक दानपत्र का भी उल्लेख किया। यदि यह सत्य है तो, प्रदीपशाह के वि०सं० १७७३ माघ के ताम्रपत्र-लेख (फरबरी १७१७ ई०) के आधार पर कहा जा सकता है कि, दिलीपशाह ने फरबरी १७१७ से एक माह पूर्व अपना दानपत्र निर्गत किया। कदाचित् उसने मात्र दो मास ही शासन किया।

टिहरी राज्य अभिलेखागार पञ्जी (संख्या ४, पृ० ६-१०) के अनुसार, उपेन्द्रशाह की मृत्यु बग्वाल् (दिवाली) के दिन हुई। इससे प्रकट होता है कि उपेन्द्रशाह ने नवम्बर तक केवल नौ-दस मास ही शासन किया। मोलाराम भी उसके द्वारा नौ-दस मास नीतिपूर्वक राज करने का उल्लेख करता है। उसके पश्चात् दिलीपशाह का शासनकाल इतना स्वल्प रहा कि राजावलियों में उसका नामोल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा गया।

महाराजा प्रदीपशाह (१७१७-१७७३ ई०)

प्रदीपशाह, उपेन्द्रशाह के अनुज दिलीपशाह का पुत्र था। कदाचित् जब वह पाँच वर्ष का अवयस्क बालक था, उसे राजसिंहासन प्राप्त हुआ। राजमाता जीया कनकदेई[५४] उसकी संरक्षिका शासिका बनी। राणीराज के प्रारम्भ में ही दरबारी दलबन्दी प्रबल हो गयी थी। मोलाराम के शब्दों में :—

> 'पाँच बरस महि राजहि पायो। राजकाज सब मात चलायो।
> राणीराज भयों गढ़ मांही। मन्त्री नूतन चक्रि बनाई।
> नूतन मन्त्री नूतन राजा। गढ़ महि भयो भ्रष्ट सब काजा।'

मोलाराम के अनुसार, नित्य नये मन्त्री बन रहे थे, और डोभाल तथा खण्डूड़ियों की मनमानी चल रही थी। जिन पाँच भ्राता कठैतों के सिर अत्याचारों की कहानी मढ़ी गयी, वे *'टिहरी राज्य अभिलेखागार-पञ्जी'* में वर्णित सादरसिंह कठैत के पाँच पुत्र उपेन्द्रशाह की कटरायण महाराणी के मायके के सम्बन्धी बताये गये हैं। राजमाता कनकदेवी के सहयोगियों ने षड्यन्त्रकारी उन पाँच भाई कठैतों को 'पंचभैयाखाल' में वध कर डाला।

'महाराजाधिराज' विरुदधारी प्रदीपशाह के दानपत्र वि०सं० १७७३ माघ (फरबरी १७१७ ई०) से लेकर सं० १८२६ (१७७२ ई०) तक के मिल चुके हैं

---

५४. राजमाता कनकदेवी का नाम ***टिहरी राज्य अभिलेखागार पञ्जी सं० ४*** तथा संवत् १७७४ वैशाख के ***रामपुर-ताम्रपत्र लेख*** में मिलता है.

(द्र०, परिशिष्ट ३)। उसकी दो मुद्राएँ भी लिखी हैं जो राज्य संग्रहालय लखनऊ में संग्रहीत हैं। कवि देवराज के अनुसार, "उसने रार्यीगढ़, जौरिया तथा धौलवन में वीरतापूर्वक युद्ध किये तथा चन्द राजा कल्याणचन्द (चतुर्थ) की सहायता करके उसे कूर्माचल राज्य में पुन: प्रतिष्ठित किया।"[५५] धौलिया-जौलियावन पुराना कटेहर था जो पीछे रुहेलखण्ड कहलाया। कल्याणचन्द की सहायता सम्बन्धी घटना की पुष्टि *रामायणप्रदीप* (१.६-१०) से भी होती है जिसमें वर्णित है कि, म्लेच्छों (रोहिलों) ने कमठगिरि (कुमाऊँ) पर अधिकार कर लिया था, तब प्रदीपशाह ने कल्याणचन्द को लोहबागढ़ में रक्षा की थी।

इस काल गढ़वाल-कुमाऊँ के दक्षिण में शक्तिशाली रुहेलों का प्रभुत्त्व था। सन् १७४३-४४ में रोहिलों का कुमाऊँ पर प्रथम विनाशकारी आक्रमण हुआ। *'टिहरी राज्य अभिलेखागार-पञ्जी'* के अनुसार, कुमाऊँ पर यह आक्रमण संवत् १८०० असौज (१७४३ ई०, अक्टूबर) में हुआ। रुहेलों के अलमोड़ा पर चढ़ आने पर, "राजा कल्याणचन्द बिना लड़ाई लड़े ही भागकर लोहबा के पास गैरमाण्डा में जा बैठे। वहाँ से गढ़वाल के राजा से सहायता माँगी।"[५६] दूनागिरि-युद्ध में कुमाऊँ-गढ़वाल की सम्मिलित सेनाओं की हार का उल्लेख हेमिल्टन[५७] ने किया है। सन्धि में, रुहेलों ने कुमाऊँ नरेश से तीन लाख रुपये माँगे। यह राशि प्रदीपशाह ने कल्याणचन्द को उधार देकर सहायता की। "गढ़वाल-कुमाऊँ के इतिहास में पहली बार, दोनों राज्यों के राजाओं ने मिलकर आक्रान्ता से युद्ध किया था। पश्चिमी पड़ोसी भ्राता ने अपने राज्यभ्रष्ट पूर्वी पड़ोसी भ्राता को आश्रय देकर, सैनिक सहायता देकर, तथा उसके बदले धन देकर आक्रान्ता को वापिस किया था।"[५८]

भविष्य में, गढ़वाल भी रुहेलों की विध्वंस-लीला से बच नहीं पाया। दूण की समृद्धि से सहारनपुर का रुहेला सरदार नजीबखाँ आकर्षित हुआ। विलियम्स तथा राम राहुल के अनुसार, १७५७ ई० में पँवार राजा प्रदीपशाह ने नजीबखाँ की सेना का सामना किया, परन्तु दूण प्रदीपशाह के हाथ से निकल गया। दूण

---

५५. देवराज, ***गढवाल राज्ञां वंशावलिः***, श्लोक १२३.
५६. पाण्डे, ब०द०, ***कुमाऊँ का इतिहास***, पृ० ३२७-२८.
५७. हेमिल्टन, सी०, ***हिस्टॅरि ऑव् दॅ गवर्नमेंट ऑव् रोहिला अफगानूस***, लन्दन, १७८७.
५८. डबराल, शि०प्र०, ***गढ़वाल का नवीन इतिहास, खण्ड २***, पृ० १२३.

Scanned by CamScanner

पर १७५७ से १७७० तक रोहिला सरदार नजीबखाँ का अधिकार रहा। उसकी मृत्यु के पश्चात्, ३१ अक्टूबर १७७० ई० में दूण पर पुनः गढ़राज्य की सेना ने अधिकार कर लिया।[५९]

राजा प्रदीपशाह के शासनकाल के आरम्भिक वर्षों तक दूण-सहित गढ़वाल राज्य पूर्ण समृद्ध था। देहरादून में सिख मन्दिर के लिए धामूवाला, मियाँवाला, पण्डितवाड़ी तथा भूपतवाला ग्राम देकर प्रदीपशाह ने अपनी उदारता का परिचय दिया।[६०] उसका सभा-कवि तथा धर्माध्यक्ष पण्डित मेधाकर शर्मा था जिसने *रामायणप्रदीप काव्य* की रचना की। चन्द्रमणि डंगवाल उसका मन्त्री था जिसने डाँग में मङ्गलेश्वर शिवमन्दिर का निर्माण किया। 'गढ़वाल चित्रशैली' के सुप्रसिद्ध चित्रकार मोलाराम तूँवर को उसका राजाश्रय प्राप्त था। मोलाराम द्वारा निर्मित प्रदीपशाह का रूप-चित्र प्राप्त हुआ है। राजा ने दूण की राजधानी 'नवादा' से उठाकर धामूवाला में स्थानान्तरित की। उसके राज्यकाल में गढ़-कुमाऊँ के मध्य सहज सम्बन्ध रहे।

लगभग ५६-५७ वर्ष शासन करने के उपरान्त, प्रदीपशाह की मृत्यु संवत् "१८३० के साल" (१७७३ ई०) में हो गयी।

महाराजा ललितकुमारशाह (१७७२-१७८० ई०)

वंशावलियों के अनुसार, प्रदीपशाह के पश्चात् उसका पुत्र ललितकुमार शाह मंगसीर २६ वि०सं० १८२६ (दिस० १७७२ ई०) में राजसिंहासन पर बैठा। उसके अभिलेख सन् १७७३ से मिलने लगते हैं। उसकी दो मुद्राएँ भी राज्य संग्रहालय लखनऊ में उपलब्ध हैं।[६१] उनमें संवत् १८३३ की तिथि अङ्कित है।

राजा ने डोट्याली राणी के पुत्रों के लिए नये राज्य विजित करने की कामना से, १७७८-७६ में सिरमौर पर आक्रमण किया। मोलाराम के अनुसार, गढ़-सेनाएँ पराजित हुईं तथा राजा को घर से (निजी कोष से) व्यय वहन करना पड़ा।

---

५९. दूण की तत्कालीन अवस्था तथा रुहेलों के विध्वंसकारी आक्रमणों के लिए nध k μ *गजे०*, २ पृ० २५० (*एट०*, २, पृ० ५७५ में अद्धृत); *जॅ०ए०सो०बं०, १३* (भाग २), १८४४, पृ० ८६८ में जे०एच० बैटन की टिप्पणी; जी०आर०सी० विलियम्स, *मेम्वाइर ऑव् देहरादून*, पैरा १८६ से आगे.

६०. विलियम्स, *पूर्वोक्त*, पैरा १८४; एटकिन्सन, *हि०डि०*, २, पृ० ५७५.

६१. W.H. Valentine *की दें कॉपर कॉइन्स ऑव् इंडिया*, पृ० २२६ में प्रकाशित.

उसके राज्यकाल में भी 'दूण' सिखों तथा सहारनपुर से घुसे राजपूतों और गूजरों की लूट का शिकार बना रहा। सिख लुटेरों के दूण पर सन् १७७५ तथा १७७८ ई० में निर्मम धाड़े हुए।[६२] राजा ने दूण की रक्षा के लिए सेना भेजी, परन्तु विलम्ब होने से सिख दूण को लूट चुके थे। दूण की इस लूट का कारण एटकिन्सन (पृ० ५७६) ने राजा द्वारा दूण की ओर ध्यान न देना और विलियम्स (पृ० २०२) ने धाड़ों को रोकने में स्वयं राजा की अतिशय निर्बलता बताया। ह० रतूड़ी ने अपने इतिहास में लिखा कि दूण पर सिख लुटेरों की राजा को कुछ भी सूचना नहीं मिली क्योंकि राजा उस काल कुमाऊँ पर आक्रमण की तैयारी में लगा था। जो हो, दूण की समृद्ध घाटी तब उजाड़ हो चुकी थी।

ललितकुमारशाह के शासनकाल की दूसरी उल्लेखनीय घटना उसकी कुमाऊँ पर विजय है। उस काल कुमाऊँ में गृह-कलह इतना उग्र हो चुका था कि राजा दीपचन्द की जीवित अवस्था में ही कुँवर मोहन सिंह (रौतेला) ने सन् १७७७ में अपने को कुमाऊँ का शासक घोषित कर दिया। कुमाऊँ में इस राजनीतिक उथल-पुथल एवं अशान्ति के समय, जोशी मन्त्रियों ने ललितकुमारशाह को कुमाऊँ पर आक्रमण के लिए आमन्त्रित किया। मोलाराम के अनुसार, हरपदेव आदि जोशी बन्धुओं का विचार था कि, यदि गढ़पति हमारे वश में आ जाए तो हमारे सारे कार्य सिद्ध हो जाएँ। इस उद्देश्य से उन्होंने ललितशाह को पत्र लिखा था।[६३] *गढ़वाल राज्य का इतिहास* में कुमाऊँ-विजय १७७७ ई० में बतायी गयी है (पृ० ५२)। डबराल ने बगवाली पोखर के युद्ध में कुमाऊँ सेना की पराजय को १७७६ ई० में लिखा है। समकालीन कवि मोलाराम ने *गढ़राजवंश काव्य* में कुँवर प्रद्युम्नशाह किस प्रकार कुमाऊँ का राजा बना, इस घटना-क्रम का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। पाण्डे ने लिखा है कि प्रद्युम्नशाह मृत राजा दीपचन्द के धर्मपुत्र के रूप में प्रद्युम्नचन्द के नाम से कुमाऊँ नरेश घोषित हुआ। हर्षदेव जोशी प्रधानमन्त्री नियुक्त हुआ।

जब ललितकुमारशाह अपने द्वितीय पुत्र प्रद्युम्नशाह को कुमाऊँ के राजसिंहासन पर आरूढ कर श्रीनगर लौट रहा था, तभी संवत् १८३७ (१७८०

---

६२. दूण की खूनी लूट पर देखिए, फार्स्टर, *ट्रेवॅल्स*, खण्ड १, पृ० १९९ (विलियम्स द्वारा उद्धृत, पृ० १००) तथा जी०आर०सी० विलियम्स, *मेम्वाइर ऑव् देहरादून*, पृ० १००-०१.

६३. "जो तुम आज्ञा हम कौं दैहौ। नाहण सहित कुमाऊँ लैहौ।।
प्रथम कुमाऊँ राजहि मारैं। ता पीछे नाहण पग धारैं।। —*गढ़राजवंशकाव्य*.

Scanned by CamScanner

ई०, अगस्त) में गनाई-गिवाँड़ के 'घाम' (मलेरिया) से दुलड़ी शिविर में उसकी मृत्यु हो गयी। राजा ने लगभग आठ वर्ष शासन किया। उसके दो राणियों से चार पुत्र हुए—जयकीर्तिशाह (टीका), प्रद्युम्नशाह, पराक्रमशाह तथा प्रीतमशाह। डोट्याली राणी डोटी के राजा कृदम साई की पुत्री थी जिससे प्रद्युम्नशाह तथा पराक्रमशाह दो पुत्र हुए।

जयकीर्तिशाह (१७८०-१७८६ ई०)

महाराणी क्यूँठली से उत्पन्न, ललितशाह का ज्येष्ठ पुत्र जयकीर्तिशाह १७८० ई० में श्रीनगर के राजसिंहासन पर आरूढ हुआ। बैकेट तथा वि० शर्मा ने उसका **राज्यकाल** संवत् १८३७ से १८४३ (१७८०-१७८६ ई०) लिखा है। इसकी पुष्टि भरपुर तथा पालकोट की थोकदारी सनदें (सं० १८३७ कार्त्तिक) तथा मालीदेवल-अभिलेख (सं० १८४२ भादौ) से होती है। समकालीन कवि एवं चित्रकार मोलाराम ने *गढ़राजवंशकाव्य* में उसके राज्यकाल में उसके विरुद्ध हुए षड्यन्त्रों का विस्तृत विवरण दिया है।

स्वयं जयकीर्तिशाह तथा उसके सौतेले भ्राता प्रद्युम्नशाह (जो तब कुमाऊँ का राजा था) के पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे न थे। इसका कारण *गढ़वाल राज्य का इतिहास* (पृ० ५३) में इस प्रकार दिया है—"महाराज जयकृतशाह की मन्त्रिमण्डली में यह प्रश्न उठने लगा कि कूर्माञ्चल राज्य गढ़वाल राजा का विजय किया हुआ है, इसलिए कुमाऊँ के राजा को गढ़वाल राज्य दरबार को अवश्य कर देना चाहिए।" मोलाराम के अनुसार, भ्राता के इस दुर्व्यवहार पर प्रद्युम्नशाह ने सर्वप्रथम देवलगढ़ लूटा, तदन्तर श्रीनगर पर आक्रमण किया। सम्भवत: यह आक्रमण १७८० ई० में ही हुआ।

अव्यवस्था एवं गृह-कलह के इस काल में, राज्याधिकारियों के स्पष्टत: दो दल थे—खण्डूड़ी तथा डोभाल। जयकीर्तिशाह के राज्यकाल के प्रारम्भ में कृपाराम डोभाल मुख़तार (महामात्य) था तथा नित्यानन्द खण्डूड़ी पूर्ववत् सलाण का फौजदार एवं दफ्तरी (कार्यालयाध्यक्ष) था। आगे, कृपाराम द्वारा खण्डूड़ी दल का उत्पाटन, महामात्य के रूप में कृपाराम की स्वेच्छाचारिता, नेगी दल द्वारा उसके विरुद्ध विद्रोह और दूण के फौजदार मियाँ घमण्डसिंह को श्रीनगर आने का आमन्त्रण, घमण्डसिंह तथा हरिसिंह सुखेती द्वारा राजसभा में ही कृपाराम की हत्या और श्रीनगर के राजकोष की लूट, घमण्डसिंह का मुख़तार (महामात्य) बनना और उसकी स्वेच्छाचारिता और उसके कारण राजा का स्वयं को असहाय पाना—ये घटनाएँ श्रीनगर राज पर तब काली घटाओं की भाँति छायी थीं।

इस काल में भी 'दूण' लुटेरों के आक्रमणों से त्रस्त था। १७८३ ई० में **दूण पर सिख-छापा** इतना प्रबल था कि, विलियम्स के अनुसार, महाराजा ने समझौते में गढ़राज्य पर लूटपाट न करने का वचन लेकर सिख सरदारों को ४,००० रुपये वार्षिक कर देना स्वीकार कर लिया।[६४]

इस असहाय एवं सङ्कटावस्था में, राजा द्वारा मोलाराम से परामर्श करना, उसके रचे छन्दोबद्ध पत्र को लेकर धनीराम का सिरमौर नरेश **जगतप्रकाश** के पास सहायतार्थ भेजा जाना, जगतप्रकाश का ससैन्य श्रीनगर को प्रस्थान, और श्रीनगर के समीप 'कपरोली' के युद्ध में प्रद्युम्न, पराक्रम तथा विजयराम नेगी की सेनाओं की पराजय की घटनाएँ मोलाराम ने *गढ़राजवंशकाव्य* में वर्णित की हैं। मालीदेवल-लेख के अनुसार, यह युद्ध सितम्बर १७८५ ई० से कुछ दिन पूर्व हुआ था। जयकीर्तिशाह की रक्षाकर जगतप्रकाश सिरमौर लौट गया।

परन्तु यह शान्ति अधिक दिनों नहीं रही। गढ़ नरेश के ही मन्त्रियों की गुप्त सूचना पाकर १७८५ ई० में ही, हर्षदेव जोशी के नेतृत्व में कुमाऊँनी सेना को लेकर प्रद्युम्नशाह (चन्द) ने पुन: गढ़वाल पर आक्रमण कर उसे अधिकृत कर लिया। इस आक्रमण में, देवलगढ़ तथा श्रीनगर में जो भीषण लूट-खसोट की विध्वंस-लीला हुई वह 'ज्योश्याणी-काण्ड' के नाम से कुख्यात है! इस प्रकार, अपनी पैत्रिक राजधानी को प्रद्युम्न तथा पराक्रम ने जोशियों से लुटवाया! प्रद्युम्नशाह, किसी योजना से कदाचित् तीन मास तक श्रीनगर में रहकर, पुन: कुमाऊँ लौट गया। इस समय पराक्रम कुमाऊँ से श्रीनगर लौट चुका था। अब कुछ राजपदाधिकारी उसे सिंहासनस्थ करने का षड्यन्त्र करने लगे। जयकीर्तिशाह द्वारा सत्ता सँभालने पर भी उसके कष्टों का अन्त नहीं हुआ।

१७८६ ई० के मध्य में, **दूण पर दूसरा रोहिला आक्रमण** हुआ। दूण को सहारनपुर में मिलाने का निश्चयकर गुलाम कादिर ने हरिद्वार से घाटी में प्रवेश किया। घाटी को रक्तरञ्जित करता हुआ, घरों और खेती को अग्नि से भस्मीभूत करता हुआ जब वह दूण की लूट से सन्तुष्ट नहीं हुआ, उसने गुरुद्वारा को भी गो-रक्त से अपवित्र किया।[६५] १७८६ ई० का रोहिला आक्रमण जयकृतशाह के शासनकाल के अन्तिम वर्ष में हुआ अथवा प्रद्युम्नशाह के राज्यकाल के आरम्भ में, निश्चित नहीं है। डबराल ने इसे प्रद्युम्नशाह के काल में माना है।

---

६४. विलियम्स, जी०आर०सी०, *पूर्वोक्त*, पैरा १६७-६८.
६५. विलियम्स, *पूर्वोक्त*, पैरा २०४.

Scanned by CamScanner

टकनोर के करदार गजेसिंह बागड़ी नेगी को १७८४ ई० में लिखे पत्र से ज्ञात होता है कि जयकीर्तिशाह ने अपने सीमान्त की सुरक्षा पर भी ध्यान दिया था। उसके राज्याश्रय में भी चित्रकार मोलाराम ने 'गढ़वाल-चित्रशैली' के उत्कृष्ट चित्र खींचे। यद्यपि उसकी शान्तिप्रियता ने उसे निरन्तर असीम कष्टों में रखा, तथापि उसके हृदय में सह-अस्तित्व एवं सहयोग की जो भावना थी, दुर्भाग्य से, वह गढ़ तथा कुमाऊँ के मन्त्रियों में तथा उसके भ्राताओं में नहीं थी।

भाइयों की राज्य-लिप्सा तथा दरबारियों के कुचक्रों के कारण राजकोष रिक्त हो चुका था। सेना का भी अभाव हो चुका था। दूण की रक्षा करने में राजा इसीलिए असमर्थ था। धनीराम जैसे विश्वासघातियों के व्यवहार से खिन्न होकर जयकीर्तिशाह ने रघुनाथमन्दिर देवप्रयाग में अपने जीवन का अन्त कर दिया। राणियाँ घर के विरोधियों को शाप देकर सती हुईं। राजा नि:सन्तान मरा। उसकी अवशिष्ट व्यक्तिगत सम्पत्ति की भी देवप्रयाग में लूट हो चुकी थी।

प्रद्युम्नशाह का कोई अभिलेख १७८७ ई० से पूर्व का उपलब्ध नहीं हुआ है। इससे विदित होता है कि जयकीर्तिशाह ने १७८६ ई० तक शासन किया।

महाराजा प्रद्युम्नशाह (१७८६-१८०४ ई०)

ललितकुमारशाह अपने जीवनकाल में ही अपने पुत्र प्रद्युम्नशाह को कुमाऊँ के राजसिंहासन पर स्थापित कर चुका था। प्रद्युम्न ने प्रद्युम्नचन्द के नाम से कुमाऊँ पर सन् १७७६ से १७८६ तक शासन किया। अपने अग्रज जयकीर्तिशाह की मृत्यु के पश्चात्, प्रद्युम्नशाह कुमाऊँ का राज छोड़कर, १७८६ ई० में श्रीनगर के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ।

राज्य-प्राप्ति के समय की परिस्थिति का पाण्डे इस प्रकार वर्णन करते हैं—"राजा जयकीर्तिशाह के मरने पर उनके छोटे भाई पराक्रमशाह ने आप राजा होना चाहा, परन्तु राज के पञ्चों ने हर्षदेव जोशी के पास सूचना भेजी कि गढ़वाल-राज्य का प्रबन्ध राजा प्रद्युम्नचन्द की मर्जी के अनुसार होवे। निश्चय यह हुआ कि राजा का राज्य-विस्तार होने से ठौर-ठौर का अलग राजा नहीं होता, राजा एक ही रहता है। इस कारण राजा प्रद्युम्नचन्द गढ़वाल एवं कुमाऊँ दोनों के राजा रहें। यह निर्णय सिवाय कुँवर पराक्रमशाह के और सबों को पसन्द आया। कुमाऊँ-राज्य का प्रबन्ध हर्षदेव जोशी के हाथ में रहा।"[६६] दूसरी ओर, वि० शर्मा

६६. पाण्डे, ब०द०, *कुमाऊँ का इतिहास*, पृ० ३६२.

ने लिखा है, "महाराज प्रद्युम्नशाह को जब ज्ञात हुआ कि मन्त्री रामा-धरनी खण्डूड़ी राज-प्रबन्धक हैं तो उन्होंने कुमाऊँ की राजगद्दी निज छोटे भ्राता पराक्रमशाह को सौंप पैतृक गद्दी को खाली देख आप श्रीनगर की गद्दी पर विराजमान हुए।"[६७] कुँवर पराक्रम को अपनी कुमाऊँ की राजगद्दी हस्तान्तरित करने सम्बन्धी वाल्टन[६८] तथा वि० शर्मा के कथन की पुष्टि मोलाराम के *गढ़राजवंशकाव्य* से नहीं होती।

कालान्तर में, राजा मोहनचन्द को मारकर हर्षदेव फिर कुमाऊँ का सर्वेसर्वा बन गया। पाण्डे के अनुसार, हर्षदेव ने गढ़-नरेश प्रद्युम्नशाह को लिखा कि कुमाऊँ का राज्य उनका है, वह आकर राज करें, परन्तु राजा ने वहाँ की पुरानी कठिनाइयों को स्मरणकर कुमाऊँ में पुन: आने से इनकार कर दिया। इस प्रकार, कुमाऊँ की राजगद्दी राजा प्रद्युम्नचन्द के समय से गोरखा-विजय तक जोशियों के हाथ में रही।[६९]

श्रीनगर के राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के उपरान्त, कुँवर पराक्रम के उत्पातों तथा राज्य के पूर्वी एवं पश्चिमी सीमान्तों से हुए आक्रमणों से राजा कभी शान्तिपूर्वक नहीं रहा। इस अराजकता के कारण, प्रद्युम्नशाह के राज्यकाल में प्रजा विकट दारिद्र्य एवं अव्यवस्था से पीड़ित रही। इस काल की अवस्था को, संक्षेप में, निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है :—

१. **श्रीनगर में मन्त्रियों के मध्य द्वेषाग्नि :** कृपाराम डोभाल (दीवान) तथा नित्यानन्द खण्डूड़ी (दफ्तरी) के पारस्परिक विरोध के कारण नित्यानन्द की आँखें निकलवा देना, रामा-धरणी (सेनाध्यक्ष एवं मन्त्री) दोनों डोभाल भ्राताओं के गुप्त षड्यन्त्र से, जो राजमन्त्री थे और इस समय सर्वेसर्वा थे, राजसभा में ही कृपाराम की हत्या, कृपाराम के पक्षधरों की सहायता से कुँवर पराक्रम द्वारा, जिसे राजगद्दी का लोभ दिया गया था, रामा-धरणी भ्राताओं की हत्या, राजा का मन्त्रियों के हाथ की कठपुतली बना रहना, पराक्रम द्वारा राजा को बन्दी की-सी स्थिति में डालना, परिणामस्वरूप पराक्रम तथा सुदर्शन में चाचा-भतीजा संघर्ष का आरम्भ, स्वार्थरत मन्त्रियों तथा राजकर्मचारियों के वैमनस्य से रचे कुछ काले दृश्य हैं। अनुज होने पर भी, कुँवर पराक्रम की राज्य-लिप्सा इन दृश्यों को आरम्भ से ही उदीप्त करती रही। समकालीन कवि मोलाराम-रचित *'गढ़गीता-संग्राम'* (१८००

६७. शर्मा, वि०, *पूर्वोक्त* पृ० ५५.

६८. वाल्टन, *गजे० गढ़०*, पुन० १९२१, पृ० १२१.

६९. पाण्डे, ब०द०, *पूर्वोक्त*, पृ० ३६५-६६.

Scanned by CamScanner

ई०) में पराक्रम के षड्यन्त्रों का तथा इससे उत्पन्न अराजकता का विस्तृत वर्णन है। महाराज के पूछने पर कि, हमें बताओ कि तुमने मन में क्या ठानी है? तब कुँवर पराक्रम बोला, दो शर्त हैं—अपने मन्त्रियों का वध करें तथा राज्य का बँटवारा कर दें:—

'इन मंत्रिन कौं देहो मराई। जो तुम जानों मोकों भाई।।
जो यह अरज न मानों हमरी। हम आज्ञा नहीं मानै तुमरी।।
वार गार दो राज बनैंगे। चार दिसा यह बात सुनैगे।।
गंगवार ही राज हमारो। हरदुवार बदरी तक सारो।। ३६३ ।।'

२. दूण पर निरन्तर छापे और उसकी निर्मम लूट : इस काल में पश्चिम से सिखों के तथा सहारनपुर के भूखे राजपूत तथा गूजरों के छापों से दूण भयानक रूप से त्रस्त था। राजधानी में चल रहे राजनीतिक कुचक्रों में फँसे होने से प्रद्युम्नशाह दूण की यथोचित रक्षा न कर सका। एक समय तो दूण सिरमौर राजा के द्वारा अधिकृत हो चुका था। १८००-१८०१ ई० में सहारनपुर से आये मराठों ने दूण को खूब लूटा। "It was the public Property of every sturdy freebooter" (*विलियम्स*)। विलियम्स आगे लिखता है कि, "यद्यपि दूण पर इस प्रकार अनेकों का अस्थायी आधिपत्य रहा, उम्मेदसिंह यहाँ गोरखा-विजय तक श्रीनगर राजा का मान्यता-प्राप्त फौजदार (viceroy) था।[७०] परन्तु उमेदसिंह की मृत्यु के पश्चात् घमण्डसिंह श्रीनगर से यहाँ का सूबेदार नियुक्त हुआ था।

३. १७६१ ई० में प्रथम गोरखा-आक्रमण : हर्षदेव जोशी के निमन्त्रण पर, गोरखों ने गढ़वाल पर आक्रमण कर दिया। वर्ष-भर तक लंगूरगढ़ पर उनका घेरा रहा, परन्तु वे गढ़वाली सेना के प्रबल प्रतिरोध के कारण उसे अधिकृत करने में असमर्थ रहे। राजा ने लंगूरगढ़ की सन्धि में ३००० रु० वार्षिक कर देकर शत्रु से पिण्ड छुड़वाया। अगस्त १७६२ में नेपाल दरबार से इस सन्धि की पुष्टि हुई। धर्मपत्र लिखे जाने पर भी, गोरखा निरन्तर गढ़वाल के पूर्वी सीमान्त परगनों पर लूटपाट, आगजनी तथा दासों का विक्रय करते रहे। उल्लेखनीय है कि *गढ़राजवंशकाव्य* में मोलाराम ने लंगूरगढ़ के घेरे का तथा गढ़-नेपाल सन्धि का उल्लेख नहीं किया। जो हो, "अब राजा नेपाल के भरोसे चैन की साँस ले रहा था, उसे शासन-प्रबन्ध को व्यवस्थित करने की न चिन्ता थी न सेना को बढ़ाकर शिक्षित करके तैयार रखने की।"[७१]

---

७०. विलियम्स, जी०आर०सी०, ***पूर्वोक्त***, पैरा २१५.

७१. सांकृत्यायन, राहुल, *हिमालय-परिचय (१)*, पृ० १८०.

४. भयङ्कर प्राकृतिक त्रासदियाँ : संवत् १८५१-५२ (१७९५ ई०) का भीषण अकाल गढ़वाल में 'इकावनी-बावनी' के नाम से याद किया जाता रहा है। तदन्तर सं० १८६० के भादौ (८ सितम्बर, १८०३) की अर्द्धरात्रि में आये विनाशकारी भूकम्प ने गढ़वाल की अवर्णनीय क्षति हुई। भूकम्प का केन्द्र बिन्दु ही गढ़वाल था। बैटन ने लिखा है कि, "सब घर भूमिशायी हो गये, कोई विरला ही एक-आध बचा। जल-स्रोत यहाँ के वहाँ और वहाँ के अन्यत्र चले गये......।" रेपर (१८०८) ने लिखा—राजभवन निवास-योग्य नहीं रह गया था। भूकम्प के झटके कई महीनों तक आते रहे....।" मोलाराम का कथन है कि, श्रीनगर में 'सहर', 'बाजार' और 'राजभवन' सभी धराशायी हो गये थे। बाड़ाहाट, देवप्रयाग, जोशीमठ तथा बदरीनाथ में भी भारी विनाश हुआ। "भूकम्प के पश्चात् मनुष्य संख्या २० या २५ सैकड़े से अधिक न बची होगी। जो बचे वे भी घर-परिवार विहीन हो गये। अन्न-वस्त्र का अभाव हो गया। जहाँ देखो तहाँ बस हाहाकार...।"

५. १७९६ ई० में हार्डविक की गढ़वाल-यात्रा : देश की नग्नावस्था पर उसका कथन है कि, सर्वत्र निर्जनता तथा कंगाली ही व्याप्त थी, देश का अधिकांश भाग जंगली जीवों का घर बन गया था। स्वयं राजा के वस्त्र उसके भ्राताओं के ही समान अत्यन्त सादे थे।[७२] हार्डविक का यह वृतान्त गढ़राज्य की तत्कालीन दरिद्रता का वास्तविक चित्रण है जिसे 'इकावनी-बावनी' के दुर्भिक्ष ने और भी सोचनीय बना दिया था।[७३]

६. फरवरी १८०३ में द्वितीय गोरखा आक्रमण : गढ़वाल पर गोरखों का सुनियोजित आक्रमण पश्चिम की ओर नेपाली विस्तारवाद की आँधी थी। इस आक्रमण के लिए केवल बहाना खोजा जा रहा था। प्राकृतिक त्रासदियों से देश तथा दरबारी कुचक्रों से महाराजा प्रद्युम्नशाह शक्तिहीन हो चुके थे। यही समय आक्रमण के लिए अनुकूल था। श्रीनगर का बिना किसी महा-प्रतिरोध के पतन हो गया। प्रद्युम्नशाह ने इस समय देश-रक्षा के सभी प्रयास किये, परन्तु 'खुड़बुड़ा' के युद्ध में उसे वीरगति प्राप्त हुई। इस युद्ध में पराक्रम ने भी राजा का साथ दिया था। रतूड़ी के अनुसार, यह युद्ध १४ मई, १८०४ ई० को हुआ था।

---

७२. रतूड़ी, ह०, *ग०इ०*, पृ० ४१८-१९.

७३. Cap. T.Hardwicke, "depopulation and misery are striking features throughout, and a greater share of the country seems in the undisturbed possession of the birds and beasts of the forest than appropriated to the residence of man."–*Asiatic Researches*, VI., p. 322.

Scanned by CamScanner

राज्यकाल : बैकट तथा विजयराम शर्मा की वंशावली के अनुसार, प्रद्युम्नशाह का राज्यकाल संवत् १८४३ से १८६१ (१७८६-१८०४ ई०) तक रहा। इसकी पुष्टि उसके संवत् १८४३ चैत ११ तथा सं० १८६१ जेठ ६ के *भरपुर-लेखों* से होती है। इस प्रकार, १८ वर्ष शासन करने के पश्चात्, ३६ वर्ष की आयु में प्रद्युम्नशाह की मृत्यु हुई। वह 'अखण्ड गढ़राज्य' का अन्तिम स्वतन्त्र राजा था। जो एक समय सम्पूर्ण गढ़-कुमाऊँ का भी राजा रहा।

प्रद्युम्नशाह की पराजय के कारण : १८०४ ई० में गोरखों के हाथ स्वतन्त्र गढ़राज्य की पराजय एक युगान्तरकारी घटना ही नहीं थी, यह महान् दु:खद भी थी। इस पराजय के कारणों की खोज करते हुए, हमें सर्वप्रथम कारण तत्कालीन सभी हिमालयी राज्यों की निर्बलता ही प्रतीत होती है। **राजनीतिक सूझ-बूझ के अभाव में**, वे अपने अहं की तुष्टि के लिए परस्पर लड़ते रहे और उन्हें कभी यह आभास ही नहीं हुआ कि कोई बाहरी महाशक्ति आकर कभी उन्हें लील सकती है। गोरखों के शक्तिशाली पश्चिमी अभियान की सूचना पाकर भी, उनमें ऐक्यता-संघबद्धता की भावना, जाग्रत नहीं हुई। यदि वे समय पर एकताबद्ध होते तो, उन्हें गोरखा-आँधी के समक्ष तिनकों की भाँति उड़ना नहीं पड़ता। कुमाउँनी, गढ़वाली, सिरमोरी सभी इतिहास-प्रसिद्ध योद्धा जातियाँ हैं, उनमें कभी देशप्रेम का तनिक भी अभाव न था। परन्तु राजनीतिक सूझ-बूझ किसी राजा में नहीं थी। प्रद्युम्न तथा पराक्रम में भी नहीं। दोनों भ्राता गोरखा शत्रु के इरादों से निश्चिन्त, गृह-कलह में संलग्न थे।

गढ़-मन्त्रियों तथा उच्च पदाधिकारियों में फूट गढ़राज्य के अध:पतन का दूसरा प्रधान कारण था। गढ़राज्य में शतियों से शासनतन्त्र सीधे राजा के हाथ में था जिसे 'राजतन्त्र' कहते हैं। सप्ताङ्ग हिन्दू राज्यतन्त्र में 'मन्त्रिवर्ग' उसका एक मुख्य घटक है। 'मन्त्री' अपनी निष्ठा, योग्यता एवं सद्परामर्श से राजा की सहायता करते थे। उनमें वैयक्तिक हित के स्थान पर राष्ट्र-हित की भावना सर्वोपरि होती थी। ऐसे मतिमान् मन्त्रियों से सञ्चालित संवैधानिक राजतन्त्र का निर्वाह यहाँ प्रतापी राजा फतेपतिशाह के कुछ ही काल उपरान्त समाप्त होता गया। यद्यपि अँग्रेज यात्री हार्डविक (१७९६ ई०) ने अपने वृतान्त में, गढ़राज्य में उस काल "मर्यादित राजतन्त्र" होने का उल्लेख किया है जो एक अभिजात-वर्ग द्वारा नियन्त्रित था।[७४] परन्तु वास्तविकता यह है कि, इस काल मन्त्रिमण्डल का वह

७४. विलियम्स, **पूर्वोक्त**, पैरा २३४ में उद्धृत.

परम्परागत तालमेल सर्वथा विलुप्त हो चुका था। पूर्व स्थानीय इतिहासकारों ने राजधानी में मन्त्रियों की स्वार्थपरता से उत्पन्न प्रबल द्वेषाग्नि का तथा राजा का उनके हाथ की कठपुतली बन जाने का उल्लेख करते हुए, महान् दु:ख प्रकट किया है। श्रीनगर में निरन्तर इन राजनीतिक कुचक्रों से राज्य अशान्त रहा जिसने राज्य की जीवनी शक्ति को अत्यन्त दुर्बल बना दिया था।

राज्य संस्था के घटकों में 'कोष' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जयकीर्तिशाह के देहान्त के उपरान्त राजकोप की लूट हुई, और जब प्रद्युम्नशाह सिंहासनारूढ हुआ तब **राजकोष शून्य** था। तीन सहस्र से बढ़कर पच्चीस सहस्र रुपये वार्षिक कर का भार गढ़राज्य पर था, जो दो-तीन वर्षों से नेपाल को चुकाया नहीं गया था। इस अवधि में दो 'प्राकृतिक त्रासदियों' ने गढ़राज्य की आर्थिक निर्बलता को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया था। गोरखा-आक्रमण से पूर्व, 'साल इकावनी-बावनी' के महा-दुर्भिक्ष तथा 'साठ साल' के विनाशकारी भूकम्प ने राजा-प्रजा दोनों को घोर आपदा में डाल दिया। अतएव राज्य की यह सोचनीय दरिद्रता राजा की पराजय का तृतीय कारण था।

राज्य-लिप्सा के लिए कुँवर पराक्रमशाह के कुचक्र, हर्षदेव जोशी तथा कवि मोलाराम के विश्वासघात के सम्बन्ध में शान्तचित-**सरल हृदय राजा का संभ्रम** भी १८०४ ई० की पराजय के लिए उत्तरदायी था। हर्षदेव ने गोरखों को यहाँ आमन्त्रित किया, तथा मोलाराम ने भी उन्हें आक्रमण के लिए प्रेरित किया। मोलाराम भी राजसभा का एक सभ्य था। अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए, गोरखों को आक्रमण की प्रेरणा देना तथा श्रीनगर पतन पर आनन्द मनाना सरासर विश्वासघात है। इस तथ्य के सङ्केत *गणिका-नाटक* के पृ० ६४, ६५ से भी मिलते हैं।

सैन्य बल की निर्बलता भी प्रद्युम्नशाह की पराजय का एक कारण था। गोरखा-आक्रमण अचानक हुआ था। गढ़वाली सेना में अधिकांश 'नयी भरती' के सैनिक थे। फिर धनाभाव में सैन्य-बल बढ़ाया न जा सका। हार्डविक के अनुसार, स्थायी सेना पाँच सहस्र पैदल से अधिक नहीं थी, वह भी पञ्चमेल, जिनकी वर्दी, अनुशासन एवं वेतन भुगतान सबके प्रति सरकार ने अवहेलना दिखायी थी।[७५] अतएव एक प्रशिक्षित, अनुभवी तथा विशाल गोरखा सेना के समक्ष ऐसी गढ़वाली सेना कैसे टिक सकती थी ?

७५. विलियम्स, **पूर्वोक्त**, पैरा २३१ में उद्धृत.

Scanned by CamScanner

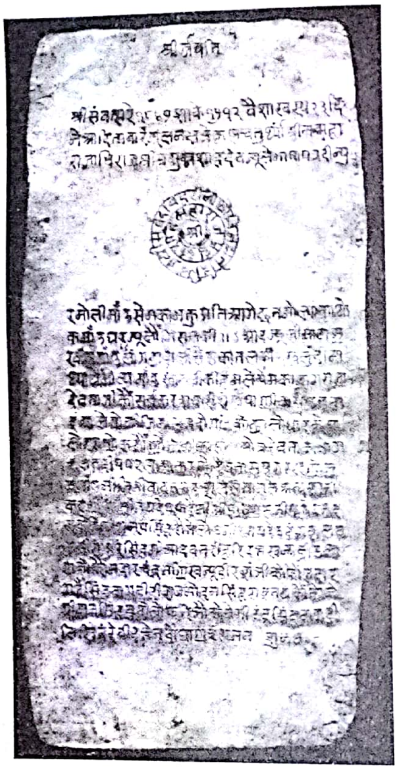

चित्र १८. महाराजा प्रद्युम्नशाह का सेममुखेम-ताम्रपत्र, वि०सं० १८४७.
(गढ़वाल विश्वविद्यालय से साभार)

❖❖

अध्याय १३.
गढ़-राज्य की पुनर्स्थापना

महाराजा सुदर्शनशाह
(१८१५-५६ ई०)

युवराज का प्रवासकाल : गढ़वाल पर गोरखा आधिपत्य स्थापित हो जाने पर, युवराज सुदर्शनशाह कनखल ज्वालापुर जाकर राज-परिवार के साथ रहने लगा था। इस समय वह प्राय: बीस वर्ष का था। श्रीनगर से उसके साथ बहुत-से लोग आये थे, परन्तु अब उसके साथ अल्प विश्वासपात्र सेवक ही रह गये। इस विकट आर्थिक सङ्कट के समय वह असीम कष्टपूर्ण जीवन बिता रहा था। परन्तु इस दशा में भी उसने धैर्य नहीं छोड़ा तथा साहस के साथ इन परिस्थितियों का सामना करता रहा। ग्यारह वर्ष तक निरन्तर वह अपने खोये हुए राज्य के उद्धार के लिए प्रयत्न करता रहा।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए, सुदर्शनशाह सन् १८०६ से १८११ तक बरेली में भी रहा। बरेली प्रवास में उसका परिचय कैप्टेन हियरसी नामक एक धनी ऐंग्लो-इण्डियन से हुआ जिसकी करेली रियासत बरेली के पास थी। कहते हैं, उसने आर्थिक विपन्नता में पड़े हुए युवराज से एक लिखित 'समझौता' किया जिसमें हियरसी ने ३००५ रुपये देकर युवराज से गढ़ राज्य के दूण तथा चण्डी परगने क्रय कर लिये। इस 'विक्रयपत्र' पर सुदर्शनशाह के हस्ताक्षर और २२ जून १८११ की तिथि अङ्कित है।[१] दूण-घाटी पर लिखनेवाले श्री गिल तथा बेरी ने इस कहानी को सत्य मान लिया है।[२] परन्तु प्रसिद्ध इतिहास लेखक ठा० शूरवीर सिंह पँवार इस विक्रयपत्र को अविश्वसनीय मानते हैं। उनके अनुसार, प्रथम, कोई भी स्वस्थचित् व्यक्ति ३००५ रुपयों की नगण्य धनराशि में इतने विशाल एवं उर्वर

---

१. पीयर्से, कॉर्नल ह्यूग, ***The Hearseys, Five Generations of an Anglo-Indian Family***, लंदन, १६०५, पृ० ६१.

२. गिल, ए०आर०, ***Valley of the Doon***, देहरादून, १६५२, पृ० ८-६; बेरी, रमेश, ***The Story of the Doon Valley.***

परगनों को नहीं बेचेगा। द्वितीय, पीयर्से तथा गिल की पुस्तकों में सनद का जो पत्र उद्धृत है, उसके प्रारम्भ में ही सुदर्शनशाह के पूर्वजों के नाम पूर्णतः अशुद्ध लिखे हैं—"मैं, राजा सुदर्शनसाह, पुत्र राजा HURDUT SAH, पौत्र राजा ALEEP SAH....."। स्पष्टतः यह लिखत हियरसी तथा उसके घराने की ओर से जाली तौर पर तैयार की गयी थी। तृतीय, इस लिखत के अन्त में २२ जून १८११ के साथ "बिक्रमजीत संवत् १८१८" लिखा है। इससे भी यह लिखत जाली सिद्ध होती है। यदि सुदर्शनशाह ने कोई वचन दिया भी होगा तो वह वहाँ की केवल जिंमीदारी आय हेयरसी को देने सम्बन्धी हो सकता है। अतएव, दूण-घाटी के 'विक्रय' की बात सर्वथा असत्य है।[३] ब्रिटिश सरकार ने भी विक्रयपत्र को असत्य बताया है।[४] अस्तु, इतना कहा जा सकता है कि बरेली प्रवास में अपने आर्थिक सङ्कट में सुदर्शनशाह को हियरसी से कुछ बातचीत करनी पड़ी थी। कम्पनी सरकार से सहायतार्थ युवराज अन्त में फतहगढ़ भी गया। अँग्रेज-गोरखा युद्ध की घोषणा होने पर ही उसे फतहगढ़ से देहरादून भेजा गया, "ताकि इनकी उपस्थिति से गढ़वाल की जनता भी ब्रिटिश सेनाओं की अधिक सहायता करे।"

चित्र १६. गढ़-नरेश महाराजा सुदर्शनशाह

इन्हीं दिनों, युवराज के दो विवाह, बमोर (जम्मू) के राजा करमचन्द्र तथा सिरमोर के राजा कर्मप्रकाश की राजकुमारियों के साथ कनखल में हुए।

गढ़राज्य पर कम्पनी की हड़प-नीति की छाया : परिस्थितियों से घिरा सुदर्शनशाह

३. पँवार, शू०सिं०, "देहरादून का इतिहास" (शोध-पत्र), २१ अगस्त, १६७३, पाण्डुलिपि, पृ० ४६-५३.
४. पीयर्से, ***पूर्वोक्त***, पृ० ६१.

राज्य-प्राप्ति के लिए कम्पनी सरकार से सहायता की माँग कर रहा था। कम्पनी सरकार हिमालय क्षेत्र में प्रवेश का अवसर ढूँढ़ ही रही थी। फलतः कम्पनी सरकार द्वारा गोरखों के विरुद्ध युद्ध-घोषणा हो गयी। सन् १८१५ में गोरखा पराजित हुए। इसमें सुदर्शनशाह का भी अप्रत्यक्ष सहयोग था। कम्पनी सरकार ने युवराज को आश्वासन दिया था कि वे गोरखों के निष्कासन के पश्चात् गढ़वाल को स्वतन्त्र कर देंगे। परन्तु गोरखों पर विजय के पश्चात्, कम्पनी सरकार ने युवराज के साथ धोखा किया। कहते हैं, कम्पनी ने सुदर्शनशाह से युद्ध-व्यय के रूप में पाँच लाख रुपये माँगे। सुदर्शनशाह, जो विकट आर्थिक सङ्कट से गुजर रहा था, इसे चुकाने में असमर्थ था। अस्तु, १८१५ ई० में कम्पनी सरकार से प्राप्त 'अस्थायी सनद' की शर्तों के अनुसार, 'गढ़वाल राज्य' का विभाजन किया गया। सुदर्शनशाह को, रवाँई तथा दूण परगनों को छोड़कर, अलकनन्दा तथा मन्दाकिनी का पश्चिमवर्ती एक छोटा, बीहड़ एवं जंगली भाग मिला।[५] उल्लेखनीय है कि सन् १८१५ में सुदर्शनशाह अपने पूर्वजों की राजधानी श्रीनगर को चाहता था। पूर्वी गढ़वाल की प्रजा भी ऐसा ही चाहती थी। परन्तु गवर्नर जनरल श्रीनगर को न देने पर अडिग रहा।

इस प्रकार, 'हड़प नीति' के प्रतिफलस्वरूप, १७ गते ज्येष्ठ, वि०सं० १८७२ (जनवरी १८१५) में सुदर्शनशाह को गढ़वाल राज्य का एक छोटा भाग ही प्राप्त हुआ। इसकी पुष्टि ४ मार्च की सनद द्वारा की गयी।[६] फिर भी, १ गते श्रावण को जब सुदर्शनशाह वि० फ्रेजर के साथ अपने पूर्वजों की राजधानी श्रीनगर पहुँचा तो उसे अभी भी कुछ आशाएँ थीं जो नाटक ही सिद्ध हुईं।

जुलाई १८१५ में कम्पनी सरकार की ओर से वि० फ्रेजर ने अलकनन्दा के पूर्व में स्थित परगनों के थोकदारों, सयाणों को सूचित किया कि वे अब 'कुमाऊँ कमिश्नर' के अधीन हैं, और यह भाग 'ब्रिटिश गढ़वाल' बन गया।[७] जुलाई में ही जी० डब्ल्यू० ट्रेल कुमाऊँ का असिस्टेन्ट कमिश्नर नियुक्त हुआ तथा उसे गढ़वाल में 'भूमि-प्रबन्ध' के लिए भेजा गया। सन् १८१६ में ट्रेल की रिपोर्ट के आधार पर नागपुर परगना में टिहरी गढ़वाल तथा ब्रिटिश गढ़वाल की सीमाएँ निर्धारित की गयीं।

५. एटकिन्सन, ई०टी०, *हि०डि०, खण्ड २*, १८८४, पृ० ६८०.
६. *Aitchison, C.U., A Collection of Treaties*, खण्ड २, १६६३, पृ० २७-२६.
७. वाल्टन, एच०जी०, *ब्रिटिश गढ़वाल गजे०*, पुनर्मु० १६२१, पृ० १३०.

४ मार्च, १८२० में महाराजा सुदर्शनशाह को गवर्नर जनरल द्वारा 'स्थायी सनद' दी गयी जो पूर्व 'अस्थायी सनद' पर ही आधारित थी। सनद की शर्तों के अनुसार, कम्पनी सरकार ने 'टिहरी गढ़वाल राज्य' पर राजा एवं उसके वंशजों का अधिकार स्वीकार किया। इसके बदले राजा को किसी भी आवश्यकता के समय कम्पनी सरकार को सहायता देनी थी। शर्तों के समुचित अनुपालन होने पर, कम्पनी सरकार ने राजा के शत्रुओं से उसकी रक्षा का बचन दिया। दूण-घाटी, राईगढ़ (रवाँई परगना), जौनसार-बावर अँग्रेजों के अधीन रहे। वास्तव में, 'स्थायी सनद' देने को कोई अर्थ नहीं था, यह मात्र कम्पनी के हितों को अधिक संरक्षण के लिए दी गयी थी। इसी प्रकार, सन् १८२४ में रवाँई परगने के पूर्वी भाग का औपचारिक रूप से टिहरी गढ़वाल राज्य में समेकन का आदेश शक्तिशाली पक्ष का मिथ्याभिमान था, जबकि वास्तविक रूप से यह सम्पूर्ण परगना पूर्वकाल से ही राजा के अधीन था।

पश्चिमी सीमा का सङ्कुचन : संवत् १८७२-७३ में रामीगढ़ (राईगढ़) स्वतन्त्र हो चुका था। मैलीगढ़ के जागीरदार को क्यूँठल ने अपने अधीन कर लिया था। संवत् १८७३ में, सुदर्शनशाह में डोडाक्वाँरा के राणा की जागीरदारी भी बिशहर के राजा को दहेज़ में दे दी। गोरखा-आधिपत्य से पूर्व ये तीनों राणा गढ़-नरेशों के जागीरदार थे।[८]

राजधानी टिहरी की स्थापना : गोरखों के निष्कासन के पश्चात्, श्रीनगर ब्रिटिश सरकार का मुख्यालय बन चुका था। पँवार वंश के ५५वें राजा सुदर्शनशाह ने अपनी राजधानी भागीरथी-भिल्लंगना-सङ्गम पर टिहरी नामक स्थान पर बसायी जो तब जंगल-झाड़ियों से घिरा धींवरों का एक छोटा गाँव था। राजधानी की स्थापना वि०सं० १८७२ पौष १३ प्रविष्टे (२८ दिसम्बर १८१५ ई०) को हुई। २८ दिसम्बर की यह ऐतिहासिक तिथि आगे राज्य-स्थापना दिवस (रेस्टॉरेशॅन डे) के रूप में मनायी जाती रही। 'अस्थायी सनद' मिल जाने पर, टिहरी में सुदर्शनशाह का राज्याभिषेक हुआ। ६ फरबरी, १८२० में जब ब्रिटिश पर्यटक मूरक्राफ्ट टिहरी पहुँचा, उस समय राजा का निवास उसने छोटे-छोटे भवनों के रूप में देखा था जिसके पड़ोस में राजकर्मचारियों के लिए कुछ ही भवन बन सके थे। सन् १८४८ में सुदर्शनशाह ने राजभवन का निर्माण आरम्भ किया जो तीस वर्षों तक

८. रतूड़ी, ह०, *गढ़वाल वर्णन*, पृ० ३ टि०; रतूड़ी, वि०, *गढ़वाल राज्य का इतिहास*, पृ० ६४, ६६.

चलता रहा। त्रिखण्डीय यही राजभवन भविष्य में 'पुराणा दरबार' नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्रतापशाह के काल तक यह पँवार नरेशों का निवास बना रहा।

कुँवर प्रीतमशाह का प्रत्यागमन : सुदर्शनशाह का चाचा कुँवर प्रीतमशाह 1u-१८०४ से नेपाल में राजबन्दी था। वहीं उसका विवाह नेपाल नरेश गीर्वाणयुद्ध के चाचा एवं मन्त्री रामशाह की पुत्री से हो चुका था। सन् १८१७ में नेपाल दरबार ने प्रीतमशाह को टिहरी गढ़वाल जाने की अनुमति दे दी। राजा ने उसके निर्वाह के लिए समुचित व्यवस्था की और जब तक वह जीवित रहा पिता के समान उसका सम्मान किया। १८३६ ई० में नि:सन्तान प्रीतमशाह की मृत्यु हो गयी।

१८२६ ई० में, सुदर्शनशाह का विवाह काँगड़ा के कटौचवंशीय महाराजा संसारचन्द की दो राजकुमारियों से एक साथ हरिद्वार में हुआ।

सकलाना एवं रवाँई में जन-उत्पीड़न : गोरखा-युद्ध की समाप्ति पर, कम्पनी सरकार ने शिवराम और काशीराम नामक मुआफीदारों को पुनर्स्थापित कर दिया था। सकलाना के ये जागीरदार इस समय स्वयं को राजा से भी बढ़कर मानने लगे। यही नहीं, स० रतूड़ी के शब्दों में, "सन् १८३५ में सकलाना के मुआफीदार सामन्ती क्रूरता में बहुत आगे बढ़ गये थे।"[९] फलस्वरूप, उनके निरङ्कुश कर्मचारियों के विरुद्ध सकलाना के कमीण, सयाणा एवं प्रजा को संगठित होकर आन्दोलन करना पड़ा। राजा के आदेश पर उचित भूकर प्रजा से लिया जाने लगा। कदाचित् टिहरी राज्य में यह प्रथम जन-आन्दोलन था। सन् १८५१ में भी, सकलाना के मुआफीदार अपने कर्मचारियों के साथ जब अठूर वासियों से 'तिहाड़' वसूलने लगे तो अठूर वासियों ने विद्रोह कर दिया जिसका नेतृत्व सुनारगाँव के बद्रीसिंह असवाल ने किया। मुआफीदार और उनके सशस्त्र आदमी क्रूरतापूर्वक वसूली के लिए पहुँच गये। खूनी संघर्ष हो जाता यदि राजा राज्य पुलिस दल को भेजकर हस्तक्षेप न करता। बद्री सिंह असवाल के प्रयास से ही अठूर के किसानों की माँगें पूरी हुईं।

इस काल गोविन्द सिंह बिष्ट भी, जिसे पूर्व महाराजा ने कुछ ग्रामों की जागीर देकर रवाँई का फौजदार नियुक्त किया था और जो गोरखा शासनकाल में एक स्वतन्त्र जागीरदार बना रहा, राजा की उपेक्षा करने लगा था। वह रवाँल्टाओं को ही नहीं सकलानियों को भी राजा के विरुद्ध उकसाने लगा। सन् १८२४ में

९. रतूड़ी, सत्यप्रसाद, *टिहरी राज्य के जन संघर्ष की स्वर्णिम गाथा*, २००४, पृ० ३२.

सुदर्शनशाह को औपचारिक रूप से पावर नदी के पूर्वस्थ रवाँई का क्षेत्र प्राप्त हुआ था। उसकी सुव्यवस्था के लिए राजा ने अनेक प्रयास किये। परन्तु गोविन्द सिंह बिष्ट तथा उसका सहायक शिवदत्त स्वयं को पूर्णतः स्वतन्त्र मुआफीदार बनाने का प्रयास करने लगे। उनके उत्पात बढ़ते गये। वे निर्धारित राजस्व से अधिक की वसूली करते, और जब राजा ने उनके विरुद्ध कठोर कदम उठाये तो उन्होंने अव्यवस्था उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। यही नहीं, उन्होंने नवम्बर १८३२ में राजा के विरुद्ध एक आरोप-पत्र भी प्रस्तुत किया। राजधानी से दूर होने के कारण फौजदार उपद्रवियों से मिलकर प्रजा का शोषण करते। असह्य उत्पीड़न से आक्रोशित ग्रामीणों के दल के दल राजा से अपनी कष्ट-कथा सुनाते। राजा उन कर्मचारियों को दण्ड देता। परन्तु फिर भी प्रजा का उत्पीड़न होता रहा।

सकलाना तथा रवाँई के मुआफीदारों-जागीरदारों के प्रकरण पर, कम्पनी सरकार का ४ जुलाई १८३५ का निर्णय महत्त्वपूर्ण है जिसमें राजा को राज्य में सर्वोपरि मानते हुए कहा गया कि, यदि राजा से जागीर प्राप्तकर्ता मुआफीदार राजा की अवज्ञा करें तो राजा को उनकी सेवाएँ समाप्त करने तथा उन्हें प्रदत्त जागीरों को वापस लेने का पूर्ण अधिकार है। राज्य में जन-उत्पीड़न रोकने में, इस निर्णय से राजा को विशेष सहायता मिली।

स० रतूड़ी ने उपरि वर्णित शोषक राजकर्मचारियों के विरुद्ध राजा के प्रयासों की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "सुदर्शनशाह के राज्यकाल में राज्य की ओर से जन-उत्पीड़न-शोषण को रोकने, समाप्त करने की पूरी कोशिश की गयी एवं की जाती रही। महाराजा सुदर्शनशाह को अपने संघर्षपूर्ण जीवन का अनुभव था। उन्होंने अपने राजकाज को बड़े सुचारु रूप से चलाने का प्रयास किया।"[१०]

प्रशासन : सुदर्शनशाह के समय में भी पूर्ववत्, वजीर, दीवान, धर्माध्यक्ष नामक पदाधिकारी बने रहे। उसने आदेश दिया कि 'भूमिकर' की पूर्व प्रणाली के स्थान पर, $\frac{१}{८}$ भाग अन्नादि के रूप में तथा $\frac{७}{८}$ भाग नकद राशि के रूप में एकत्र किया जाय। ग्रामों की व्यवस्था के लिए 'कमीण', 'सयाणा' नियुक्त थे। राजस्व एवं 'विसाह' (अन्नादि) एकत्र करने के लिए 'कामदार' नामक कर्मचारी थे जो सयाणों द्वारा नियुक्त होते थे।

राजा राज्य की समस्त भूमि का स्वामी था। कर्मचारियों को दी गयी 'जागीरें' दो प्रकार की थीं—वंशपरम्परागत तथा मात्र जीवन पर्यन्त के लिए।

१०. *तत्रैव*, पृ० ३६.

सुदर्शनशाह ने शिवराम सकलानी को खास पट्टी के छः गाँव, गोविन्दसिंह बिष्ट को नन्दगाँव, बरसाली आदि कुछ गाँव, महन्त हरस्वरूप को गुरुरामराय मन्दिर के लिए छः गाँव, 'जागीर' में दिये थे। जागीरें 'रौत', 'मुआफी', 'वृत्ति', आदि नामों से भी पुकारी जाती थीं। राज्य में, ब्रिटिश गढ़वाल के समान, दीवानी तथा फौजदारी न्यायालयों की स्थापना की गयी। राज्य की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए विशेष प्रयत्न किये गये।

सन् १८५७ के 'भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम' में महाराजा सुदर्शनशाह ने अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर ब्रिटिश सरकार को सहायता दी। उसने सेना के लिए आदमी दिये और अँग्रेज परिवारों को आश्रय ही नहीं उन्हें आर्थिक सहायता भी दी। अपने परिवार को कच्चे भवनों में रखा और अँग्रेजों को अपने राजभवन में रखा। यह राजभक्ति का अनन्य उदाहरण था। इससे, पड़ोसी जनपदों की भाँति, टिहरी गढ़वाल में भी शान्ति बनी रही। स्वतन्त्रता संग्राम समाप्त होने पर, राजा की राजभक्ति के पुरस्कार-स्वरूप ब्रिटिश सरकार उसे बिजनौर जनपद का क्षेत्र देना चाहती थी किन्तु राजा ने इस बार भी इसके बदले में दूण तथा पूर्वी गढ़वाल चाहा। पत्राचार अभी चल ही रहा था कि महाराजा का स्वर्गवास हो गया। फलतः यह प्रकरण सदैव के लिए छूट गया।

राज्य प्राप्ति के पश्चात् सुदर्शनशाह ने जिस प्रशासनिक योग्यता का परिचय दिया था उसका उल्लेख अँग्रेज पदाधिकारी मि० शोर तथा जी०आर०सी० विलियम्स ने किया है।[११]

व्यक्तित्व : टिहरी में राजा से मिलकर मूरक्राफ्ट बहुत प्रभावित हुआ था। वह लिखता है, "मैंने राजा को एक कार्यशील एवं बुद्धिमान् व्यक्ति पाया। उसने अपने राज्य की दशा सुधारने के लिए अनेक कदम उठाये। किन्तु उसे इसका बड़ा दुःख था कि वह अपने पूर्वजों की राजधानी श्रीनगर को न पा सका।" सुदर्शनशाह राज्यकालीन बाड़ाहाट-प्रशस्तियों में उसके दान-मान-गान एवं कारुण्य की प्रशंसा करते हुए, उसे "कलाविदों का शिरोमणि" बताया गया है (द्र०, परिशिष्ट)। अजबराम ने राजा को "दाता ज्ञाता सूरमा" बताकर, तथा भजन राय कवि उसे दृढ़ वचन वाला राजा कहकर उसकी प्रशंसा की है। श्री भक्तदर्शन ने ठीक लिखा है कि, "महाराजा सुदर्शनशाह एक योग्य और प्रजावत्सल शासक थे। इन्होंने कुशलतापूर्वक शासन-कार्य चलाया और गोरखा-शासन में जो गाँव एवं खेत नष्ट-भ्रष्ट हो गये थे उन्हें शीघ्र ही आबाद करा दिया।"[१२] उनके कथन की पुष्टि

११. विलियम्स, जी०आर०सी०, *मिम्वाइर ऑव् देहरादून*, १८७४, पैरा ३७१.
१२. भक्तदर्शन, *गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ*, द्वि०सं०, १९८०, पृ० १०५.

Scanned by CamScanner

कुइली के कमीण को लिखे राजा के एक पत्र से होती है–"जमीन अवाद रखणी। मवासा बसाइ देणा।"[१३] राजा के सरल जीवन की प्रशंसा शिवप्रसाद डबराल ने भी की है–"वह विपत्ति में घबराने वाला और सम्पत्ति में इतराने वाला व्यक्ति न था। राज्य प्राप्त होने पर भी वह अपना जीवन सादगी से बिताता रहा।"[१४]

सुदर्शनशाह एक धार्मिक व्यक्ति था। उसने बाड़ाहाट आदि स्थलों के देवमन्दिरों का जार्णोद्धार ही नहीं किया अपितु उनकी सुव्यवस्था के लिए निरन्तर प्रयास किया। इसकी पुष्टि उसकी बाड़ाहाट-प्रशस्तियों, उसके ताम्रपत्र-लेखों एवं आदेशपत्रों से होती है। बदरीविशाल पर उसकी अपार आस्था थी, तथा प्रजा उसे 'बोलन्दा बदरीनाथ' मानती थी। वह विद्वानों-गुणियों का सम्मान करनेवाला तथा उन्हें आश्रय देनेवाला था। अपने शोध-लेख में श्री दोमादर प्रसाद थपल्याल ने लिखा है–"राज्यलक्ष्मी की चञ्चलता को जिसने देखा था और राज्यलक्ष्मी को बाँधने का, रोकने का जिसने अथक प्रयत्न किया था। वह साधुवृत्ति का ऐसा सन्यासी था, जिसने सब कुछ हारकर भी आत्मविश्वास नहीं खोया।.... ज्वालाराम, अजबराम, मनोरथ, मोक्षमण्डल ने चित्रों एवं कविताओं के द्वारा उसकी प्रशंसा की है।"[१५] वह कला-प्रेमी भी था। उसने मोलाराम को ही नहीं, चैतू, माणकू, आदि गढ़वाली चित्रकारों को भी अपने दरबार में आश्रय दिया।

सुदर्शनशाह साहित्य-प्रेमी तथा स्वयं कवि था। इसके साक्षी उसके द्वारा रचित *'सभासार'* मुक्तक काव्य के सात खण्ड हैं। *'सभासार'* में राजा अपने को कवि 'सूरत' कहता है। इसकी भाषा ब्रजभाषा है परन्तु अनेक पदों के शीर्षक गढ़वाली में दिये गये हैं। गढ़वाली भाषा से गढ़-नरेशों का स्वाभाविक प्रेम था। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से, *सभासार* काव्य-संग्रह में देव-स्तुतियाँ, नीति-शृङ्गार तथा वैराग्यपरक कविताएँ मिलती हैं। राजकीय पुस्तकालय टिहरी की एक प्रति (सं० १८७२) के पर्ण संख्या १८० में विषय-विभाजन इस प्रकार है : (१) भगवद्गुणानुवर्णन (२६ उल्लासों में), (२) कथा प्रसङ्ग (१६ उ० में), तथा (३) वेदान्तप्रसङ्ग (७ उ०में)। कवि कुमुदानन्द ने *सभासार* को शास्त्रों का सार **(शास्त्रस्य सार)** तथा राजा की समीक्षात्मक दृष्टि का प्रतिफल बताया है। ऐतिहासिक दृष्टि से, इस काव्य-ग्रन्थ का महत्त्व इसमें दी गयी 'पँवार-वंशावली' से भी है।[१६]

---

१३. कुइली-पालकोट लेख, वि०सं० १८६०, आषाढ़ १२.

१४. डबराल, शि०, *टिहरी गढ़वाल राज्य का इतिहास*, द्वि०सं०, सं० २०५६, पृ० १४८.

१५. थपल्याल, दा०प्र०, "टिहरी निर्माता : कवि सूरत", *हिमाचल साप्ताहिक* (टिहरी अङ्क), मसूरी, १६७७, पृ० ८.

१६. *पुराणा दरबार टिहरी की प्रति*, पृ० ५४.

वह संस्कृत का अनुरागी था। उसकी एक चतुष्कोण राजमुद्रिका पर संस्कृत में यह लेख अङ्कित है : **'श्रीमद्रामपदांभोज सेवयाप्ता सुमुद्रिका श्री सुदर्शनसाहस्य मुद्रा जगति राजते'**।[१७] उसकी मुद्राओं (Coins) पर भी संस्कृत में मुद्रालेख अङ्कित हैं। अनेक संस्कृत ग्रन्थों का रचयिता हरिदत्त शर्मा उसका राजकवि एवं धर्माध्यक्ष था। सुदर्शनशाह राज्यकालीन दो बाड़ाहाट-प्रशस्तियाँ भी हरिदत्त द्वारा ही रचित हैं। राजा के आश्रित कुमुदानन्द ने 'सुदर्शनोदय काव्य' लिखा। सत्यानन्द, दुर्गादत्त, वासवानन्द उसके काल में प्रसिद्ध ज्योतिषी हुए। गुमानी पन्त तथा मनोरथ कुमाऊँ से और मोक्षमण्डल नेपाल से उसकी गुणग्राहकता के कारण उसकी राजसभा में पहुँचे थे। उस विद्यानुरागी राजा का काल तुच्छ वासनाओं में नहीं, प्रत्युत विद्वत् गोष्ठियों, काव्य-रचनाओं तथा राजसभा में संस्कृत नाटकों के रसास्वादन में बीतता था।

परन्तु, जिस प्रकार फिरदोशी ने सुल्तान से उचित पुरस्कार न मिलने पर, उसकी मृत्यु से पूर्व महमूद की निन्दा में कविता लिखी थी, मोलाराम ने भी पीछे महाराजा से उचित सम्मान न मिलने पर उसकी निन्दा में *'सुदर्शन-दर्शन'* कविता लिखी। उसने इस कविता में राजा को 'सूम', 'कृपण', 'खसिया नृप', आदि कह डाला। स्पष्टत: *'सुदर्शन-दर्शन'* कवि के खिन्न मन का दर्शन है। इसमें मोलाराम का यह आक्षेप भी मिथ्या है कि राजा के राज में गुणिजन देश-त्यागकर भाग गये थे तथा राजा गुणग्राहक था ही नहीं। *'सुदर्शन-दर्शन'* कविता से इतिहासकार डबराल का यह निष्कर्ष भी असार है कि "उन दिनों में कलाकारों की दयनीय स्थिति का पता चलता है।" वस्तुत: अपनी दयनीय दशा के लिए कवि मोलाराम स्वयं उत्तरदायी था। सुदर्शनशाह द्वारा कवि को "विस्मृत करने" के समुचित कारण थे। इस विषय में श्री भक्तदर्शन ने ठीक लिखा है कि, "परन्तु यह अनुमान लगाने के प्रबल कारण हैं कि गोर्खाली शासन के दिनों में श्री मोलाराम ने गोरखा शासकों की जो प्रशंसा की थी, उसके कारण सुदर्शनशाह जी उससे खिन्न हो गये थे और इन्होंने उन्हें प्रोत्साहन नहीं दिया था।"[१८] राजा के पास कदाचित् अन्य गम्भीर कारण भी थे जिसके कारण वह करुणाशील राजा (**'कारुणिकः शङ्कर इव'**) इस काल मोलाराम से रुष्ट हो चुका था। *'सुदर्शन-दर्शन'* कविता, इस प्रकार, राजा के व्यक्तित्व मूल्याङ्कन के लिए आधार नहीं मानी जा सकती।

---

१७. *चन्द्रवदनी-लेख*, वि०सं० १८७३.

१८. भक्तदर्शन, *पूर्वोक्त*, पृ० १०८.

Scanned by CamScanner

टिहरी गढ़वाल राज्य अभिलेख (पञ्जी सं० २) के अनुसार, संवत् १६१६ ज्येष्ठ २६ गते (६ जून १८५६) को गढ़ राज्य के पुनर्स्थापक सुदर्शनशाह का देहान्त हो गया।

महाराजा भवानीशाह (१८५६-१८७१ ई०)

राजसिंहासन के लिए षड्यन्त्र : महाराजा सुदर्शनशाह अपने जीवनकाल में ही अपने ज्येष्ठ पुत्र भवानीशाह को 'टीका कुमार' घोषित कर चुका था। भवानीशाह कटौच कुल की कन्या गुणदेवी से उत्पन्न हुआ था। राजकुमारों में उत्तराधिकार के लिए विवाद न हो, इसलिए महाराज ने अपनी वसीयत में भी भवानीशाह को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था। परन्तु छोटी राणी खनेटी भवानीशाह से असन्तुष्ट रहती थी। फलस्वरूप उसने राजकुमार शेरशाह को भवानीशाह के विरुद्ध कर दिया। राणी और शेरशाह के ये षड्यन्त्र महाराज के रोग-शय्या पर पड़े रहने के समय से आरम्भ हो चुके थे। सुदर्शनशाह के स्वर्गवास होने पर मृतक-संस्कार के पूर्व ही शेरशाह राजसिंहासन पर आसीन हो गया। संवत् १६१६ के पूर्वार्द्ध में निरन्तर राणी खनेटी तथा शेरशाह द्वारा राजसिंहासन पर स्थापित रहने के प्रयास में षड्यन्त्र चलते रहे। भवानीशाह के राज्याभिषेक होने तक के इन षड्यन्त्रों का विवरण मीयाँ प्रेमसिंह की *'गुलदस्त तवारीख कोह टिहरी गढ़वाल'* तथा *'टिहरी गढ़वाल स्टेट रिकार्ड्स, रजिस्टर, २'* में मिलता है। राजपदाधिकारियों एवं प्रजा में भी इस बात पर दो दल हो चुके थे। शेरशाह के पक्षधर प्रबल थे, अनेक प्रभावशाली राजपदाधिकारी उसके पक्ष में हो चुके थे। परन्तु न्याय भवानीशाह के पक्ष में था। सिंहासन के लिए इस कलह का अन्त ब्रिटिश सरकार के हस्तक्षेप से हुआ। कमिश्नर हे० रामजे ने टिहरी आकर ६ सितम्बर १८५६ की सनद द्वारा भवानीशाह को राज्यभार देने की घोषणा की। इसी तिथि से ही भवानीशाह राजा बन गया। २५ अक्टूबर १८५६ को भवानीशाह का राज्याभिषेक हुआ। शेरशाह नौ माह राजगद्दी पर आसीन रहा। हे० रामजे ने, विद्रोह के भय से, उसे देहरादून में नजरबन्द कर दिया।

शासन-प्रबन्ध : भवानीशाह में अपने पिता की भाँति राजनीतिक कुशलता नहीं थी। शान्तचित्त तथा एकान्तप्रिय होने के कारण, उसने राजकाज सब राज्य के दीवान पर छोड़ दिया। परिणामस्वरूप दीवान की स्वेच्छाचारिता तथा लालची राजपदाधिकारियों द्वारा प्रजा का शोषण बढ़ गया। इससे उसके राज्यकाल के प्रारम्भिक दिनों में विद्रोह फूट पड़े तथा राजधानी से दूरस्थ क्षेत्रों में निरन्तर

अशान्ति रही। राज्य-प्राप्ति के प्रारम्भ में, शेरशाह तथा उसके पक्षधरों ने जौनपुर परगना-वासियों को भवानीशाह के विरुद्ध भड़का दिया। ब्रिटिश सरकार से सहायता आने पर विद्रोह शान्त हो गया। उसके राज्यकाल में रवाँई की प्रजा का विद्रोह राजपदाधिकारियों की असावधानी से हुआ बताया गया है। तब भवानीशाह ने ससैन्य वहाँ पहुँचकर विद्रोह का दमन किया। १८६१ ई० में हे० रामजे ने अटूर के कृषकों के लिए 'बारह आना बीसी' की भू-व्यवस्था करवायी। जिससे प्रजा शान्त हो गयी। प्रारम्भकालीन इन घटनाओं के पश्चात्, सामान्यतः भवानीशाह के शासनकाल में शान्ति रही।

महाराजा सुदर्शनशाह की मृत्यु होने पर, शेरशाह तथा राणी खनेटी द्वारा सम्पूर्ण राजकोष की लूट हो चुकी थी। भवानीशाह ने मितव्ययता से राजकाज चलाया। राज्य की आय का प्रमुख साधन इस समय भी 'भूमिकर' था। वनों के ठेकों से भी आय बढ़ायी गयी। विल्सन नामक अँग्रेज शिकारी को सन् १८६० में पुनः चार वर्ष के लिए ठेका दिया गया। आगे ब्रिटिश सरकार ने १८६४ ई० में दस हजार रुपये प्रतिवर्ष पर ठेका लिया। टिहरी गढ़वाल के इन मूल्यवान् वनों से अँग्रेजों ने लाखों रुपये कमाये। किन्तु अतिशय कटान से बीस वर्षों में समस्त वन समाप्त हो गये। गङ्गाजल-विक्रय के ठेकों से तथा अर्थदण्ड से भी राज्य को अल्प आय हो जाती थी।

व्यक्तित्व : भवानीशाह सरल, प्रपञ्च-रहित तथा धार्मिक प्रकृति का व्यक्ति था। उसने तीर्थयात्राएँ कीं और वह अपने 'दान' के लिए प्रसिद्ध हुआ। उसने कुछ ध्वस्त मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया तथा कुछ नये निर्मित किये। उसने, ब्रिटिश गढ़वाल की भाँति, १८६२ ई० में देवप्रयाग में एक संस्कृत-हिन्दी की प्रारम्भिक पाठशाला खोली। उसमें प्रतिशोध की भावना नहीं थी! उसने कमिश्नर द्वारा देहरादून में नजरबन्द शेरशाह को मुक्त करने की प्रार्थना की। उसने अपने समस्त विमातृज भ्राताओं तथा विमाताओं से मधुर सम्बन्ध रखे। यह होते हुए, एकान्तवास का प्रेमी यह राजा अपनी प्रजा से सम्पर्क नहीं रख सका जो उसका दूषण ही माना जायेगा।

भवानीशाह का विवाह मण्डी के राजा की दो राजकुमारियों से हुआ था। बड़ी राणी मण्डियाली जी से संवत् १६०६ जेठ १३ गते टीका प्रतापशाह तथा हिण्डूर वाली राणी (हिण्डूरीजी) से कुँवर विक्रमशाह का जन्म हुआ। इनके अतिरिक्त, प्रमोदसिंह आदि उसके अन्य छः पुत्र थे।

Scanned by CamScanner

बारह वर्ष शासन कर, ४५ वर्ष की आयु में संवत् १९२८ पौष २८ गते (दिस० १८७१ ई०) को भवानीशाह की मृत्यु हो गयी।

महाराजा प्रतापशाह

(दिस० १८७१-१८८६ ई०)

भवानीशाह के पश्चात् युवराज प्रतापशाह २० वर्ष की अवस्था में सिंहासनासीन हुआ। उसकी राज्याभिषेक-तिथि संवत् १९२९ जेठ ८ गते बतायी गयी है। उसे हिन्दी, फारसी तथा अँग्रेजी की शिक्षा दी गयी थी।' १७वें वर्ष तक उसकी नियमित शिक्षा होती रही।

शासन-प्रबन्ध : महाराजा प्रतापशाह का शासन-प्रबन्ध अपने पिता से अधिक अच्छा था। उसने अपने राज्यकाल में अनेक नये 'सुधारों' का सूत्रपात किया। प्रजा-हित में राज्य में सुधारों का आरम्भ उसके हृदय की आवाज थी और नव निर्माण कार्यों में कुछ उसकी ठाट से रहने की रुचि के परिणाम थे। राजा ने राजधानी में १८८३ ई० में अँग्रेजी स्कूल की स्थापना की। कीर्तिशाह ने इसी का नाम 'प्रताप हाई स्कूल' रखा। टिहरी में 'प्रताप प्रिंटिंग प्रेस' खोला जो राज्य का प्रथम प्रेस था। सुदर्शनशाह के काल से चली आ रही ये चार प्रकार की अदालतें उसके काल में भी विद्यमान थीं—दीवानी, फौजदारी, कलक्टरी तथा सरसरी। उसने वादों के शीघ्र निर्णय के लिए आदेश दिये। महत्त्वपूर्ण विवादों का निर्णय वह स्वयं करता था। संवत् १९३० (१८७३ ई०) में उसने पुनः 'भू-व्यवस्था' करवायी जिसे ज्यूला पैमाइश कहते हैं। राजस्व वसूली में कठिनाई होने पर, उसने राज्य को बाईस पट्टियों में विभक्त किया और उनमें एक-एक 'कारदार' की नियुक्त की। कारदार ब्रिटिश गढ़वाल के पटवारियों के समान थे परन्तु उनकी नियुक्ति एक वर्ष के लिए ही की जाती थी। शान्ति-व्यवस्थार्थ, राज्य को रवाँई, टकनौर, चिल्ला तथा देवप्रयाग चार थाणों में बाँटकर उनमें एक-एक थानेदार रखा गया। पुलिस विभाग की स्थापना की। वनों की सुरक्षार्थ भी राजा ने कदम उठाये, परन्तु इससे ग्रामीणों की कुछ सुविधाएँ बाधित हो गयी थीं। उसने टिहरी-मसूरी तथा टिहरी-श्रीनगर दो राजमार्गों का निर्माण करवाया तथा राज्य में हरिद्वार-गंगोत्तरी आदि अनेक मार्गों की मरम्मत करवाई। मसूरी-श्रीनगर मार्ग में चार 'विश्रामगृह' बनवाये। उसने संवत् १९४२ (१८८५ ई०) में, महाराणी गुलेरिया की सलाह से, राज्य में प्रचलित 'खेण' (बेगार), 'पाला' (दरबार में दूध, दही, घी पहुँचाना) तथा 'बिशाह' (अन्न रूप में कर भण्डार में पहुँचाना) नामक कुप्रथाओं को समाप्त किया। प्रजा के सुख-दुःख के निरीक्षण हेतु राजा ने राज्य में भ्रमण का

नियम बनाया। वह वर्ष में दो-तीन मास राज्य-भ्रमण पर रहता था। प्रजा-रञ्जन के लिए यह परम्परा भारत में बहुत प्राचीनकाल से रही है। संवत् १९३५ में उसने आदेश दिया कि हीन जातियों के लोग न किसी के हाथ विक्रय किये जाँय, न उन्हें दास बनाया जाय। यही नहीं, उसके द्वारा दलितों को गाँवों में भूमि दिलवायी गयी।

राजा ने राजधानी को उपवनों से सजाया। टिहरी में जिस सुन्दर न्यायालय-भवन का निर्माण किया उसे पीछे 'चीफ कोर्ट' कहा गया है। १८७७ ई० में राजा ने टिहरी के सामने पर्वत-शिखर पर अपने नाम से प्रतापनगर बसाया।

राज्यकाल के अन्त में ढंडक (विप्लव) : सुधारों के लिए निरन्तर समर्पित रहते हुए, राजा राजपदाधिकारियों-कर्मचारियों की कुटिलता से अनभिज्ञ था। "इनके राज्यकाल के अन्त समय में , राज्यकर्मचारियों में मनोमालिन्य हो जाने से कुछ पार्टियाँ बन गयी थीं और उन पार्टियों ने एक-दूसरे के विरुद्ध कुछ परगनों की प्रजा को भड़का दिया था।"[१९] असंदिग्ध रूप से, १८८२ ई० में लछमू कठैत के नेतृत्व में 'बासर ढंडक' तथा १८८६ ई० में टिहरी के समीपवर्ती ग्रामीणों के ढंडक (विप्लव) राजकर्मचारियों के शोषण के कारण और उन्हीं के विरुद्ध थे। प्रतापशाह की रुग्णावस्था के समय, टिहरी में समीपवर्ती ग्रामीण लोगों का जो जमावड़ा बैठा था उसके सम्बन्ध में ह० रतूड़ी भी कहते हैं कि, वे महाराज (प्रतापशाह) के विरुद्ध नहीं थे किन्तु कुछ कर्मचारियों के विरुद्ध थे (पृ० ४७८)। टिहरी राज्य में 'सुधारों' के सतत विरोधी राजकर्मचारियों द्वारा प्रजा को 'ढंडकों' के लिए भड़काया जाता रहा। सुधारों के प्रति सजग ३३ वर्षीय लछमू कठैत की हत्या भी राजपदाधिकारियों द्वारा उसे विषैली मदिरा देकर की गयी। "संवत् १९३२, १९३६ तथा १९४२ के इन तीन सुधारों ने तो स्वार्थ लोलुप राजकर्मचारियों एवं मुखियों पर जैसे वज्रपात ही कर दिया। उनमें विद्रोह की अग्नि, जो पहले से धीरे-धीरे सुलग रही थी, अब एकदम भड़क उठी, उन्होंने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए भोली-भाली प्रजा को बहकाकर विद्रोह करवा दिया।"[२०] परन्तु हमारा यह भी मानना है कि, उनके इन दुष्कृत्यों को उस समय अधिक अवसर मिला होगा जब कभी राजा अपने ही ठाट-बाट में समय गुजारने लगा।

व्यक्तित्व : राजा प्रतापशाह प्रजा-वत्सल, धार्मिक, न्यायप्रिय एवं विद्वानों का आदर करनेवाला था। उसके आश्रय में ही, वि०सं० १९३३ में कवि देवराज ने

---

१९. रतूड़ी, ह०, *ग०इ०*, पृ० ४७७.

२०. शर्मा, विजयराम, *पूर्वोक्त*, पृ० ९९-१००.

Scanned by CamScanner

गढ़वाल राज्ञां वंशावलि: की रचना की। कवि ने "**दाता द्विजानां च सुमार्गगामी भर्ता प्रजायाः सुविचार्य्यकर्ता**" कहकर उसकी प्रशंसा की है। राजा ने अपने विमातृज भ्राताओं, राजमाता मण्डियाली जी से ही नहीं, राणी खनेटी तथा चाचा शेरशाह से भी मृदुल व्यवहार रखा।

उसकी प्रथम राणी कटौची का तो संवत् १९२१ में विवाह के पश्चात् ही डेढ़ वर्ष में देहान्त हो चुका था। गुलेरिया राणी कुन्दनदेई से उसके तीन पुत्र हुए— युवराज कीर्तिशाह, कुँवर विचित्रशाह तथा कुँवर सुरेन्द्रशाह। पन्द्रह वर्ष शासन करने के उपरान्त, संवत् १९४३ माघ २३ गते (फरवरी १८८७) को राजा का स्वर्गवास हो गया। उस काल युवराज मात्र तेरह वर्ष का था।

राजर्षि राजा कीर्तिशाह
(१८९२-१९१३ ई०)

संरक्षिका राजमाता गुलेरिया : कीर्तिशाह की अवयस्क अवस्था में, राजमाता गुलेरिया ने उसके चाचा कुँ० विक्रमशाह को 'संरक्षक' नियुक्त किया। परन्तु लगभग एक वर्ष पश्चात् ही, उसकी अकुशलता को देखकर, राजमाता ने शासन-प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया और अपनी सहायतार्थ एक 'संरक्षण-समिति' नियुक्त की। राजमाता की शासन-कुशलता से, विक्रमशाह के संरक्षण-काल में उठे विद्रोह क्रमश: शान्त हो गये। उसे उन कुछ राजकर्मचारियों को भी पृथक् करना पड़ा जिनमें परस्पर द्वेष था। संयुक्त प्रान्त (अब उ०प्र०) के ले० गवर्नर सर अल फ्रेड कॉलविन ने स्वयं टिहरी पहुँचकर राजमाता के पक्षपात-रहित शासन-प्रबन्ध की प्रशंसा की थी। १८ वर्ष प्राप्त होने पर, महाराणी ने १६ मार्च १८९२ को कीर्तिशाह को राज्य-भार सौंप दिया और स्वयं तपस्या करने लगी। अपने आभूषण बेचकर राजमाता ने राजधानी में बदरीनाथ, रङ्गनाथ, केदारनाथ तथा गङ्गामाता के चार मन्दिर तथा एक धर्मशाला का निर्माण किया। उस कुशल शासिका, साध्वी एवं धर्मपरायणा राणी के उत्तम गुणों का वर्णन उसकी *'टिहरी-प्रशस्ति'* में किया गया है। इसी वर्ष कीर्तिशाह का विवाह नेपाल के प्रधान मन्त्री राणा जंगबहादुर की पौत्री से हुआ।

शासन-सुधार : महाराजा कीर्तिशाह ने प्रतापशाह द्वारा प्रारम्भ सुधारों को आगे बढ़ाया तथा स्वविवेक से अनेक नये सुधारों का सूत्रपात किया। टिहरी में प्रताप हाई स्कूल (१८९१ ई०), कैम्पवेल बोर्डिंग हाउस (१९०७) तथा हिवेट संस्कृत पाठशाला (१९०६) खोली। राज्य में २५ प्राइमरी पाठशालाएँ खोली

गयीं। राज्य की तथा राज्य से बाहर की कई शिक्षण संस्थाओं को उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता प्रदान की। न्यायालयों का पुनर्गठन किया। उच्च अपीलीय हाई कोर्ट 'चीफ कोर्ट' थी और चीफ कोर्ट की अपीलें राजा स्वयं 'हुजूर कोर्ट' में सुनता था। जिसमें वह धर्मग्रन्थों एवं प्रचलित परम्पराओं के आधार पर न्याय प्रदान करता था। उसने राज्य के प्रमुख मार्गों की मरम्मत करवायी और उन पर यात्रियों की सुविधा के लिए चिकित्सालयों की स्थापना की। प्रत्येक पट्टी में एक-एक पटवारी, तथा मन्दिरों एवं धर्मशालाओं के जीर्णोद्धार और प्रबन्ध के लिए एक अधीक्षक नियुक्त किया।

राजा के नये वन-प्रबन्ध से, वन पदाधिकारियों के द्वारा उत्पीड़न के कारण प्रजा में जो अशान्ति पूर्व में थी, वह धीरे-धीरे समाप्त हो गयी। उसने आगे वनों के ठेके, ब्रिटिश सरकार को न देकर, गढ़वाली ठेकेदार को देने का निश्चय किया। गढ़वाली ठेकेदार को प्रोत्साहन देने के विचार से, उसने ठेकेदार गंगाराम खण्डूड़ी को देवदार के पन्द्रह सौ पेड़ नि:शुल्क दे दिये।

राजा कीर्तिशाह ने सामाजिक सुधार के अनेक कार्य किये। उसने नौरता में क्रूरतापूर्वक 'झोटा मारने' तथा 'वेडवार्ता' को बन्द करने का आदेश दिया। निर्धनों को कन्या-दान में आर्थिक सहायता दी, धन के लालच में भोली लड़कियों को परदेश ले जाने से रोका। किसानों की सुविधार्थ दो लाख रुपयों से 'बैंक ऑव् गढ़वाल' खोला। राजधानी-स्थित टिहरी प्रिंटिंग प्रेस से पाक्षिक पत्र 'रियासत टिहरी गढ़वाल दरबार गजट' प्रकाशित हुआ। राजधानी में 'घण्टाघर' और 'नये राजभवन' का निर्माण, अपने नाम से 'कीर्तिनगर' की स्थापना तथा यमुना पर 'हिबेट ब्रिज' उसके निर्माण-कार्यों में प्रधान हैं।

बौद्धिक कार्यों को प्रोत्साहन : महाराजा कीर्तिशाह ने राजधानी में मत-मतान्तरों पर छानबीन के लिए एक 'सर्वधर्म सम्मेलन' का आयोजन किया, और सम्मेलन के अन्त में सभी धर्मों के धर्माचार्यों का सम्मान किया। मई १९०२ में स्वामी रामतीर्थ टिहरी गढ़वाल में आये। राजा की प्रार्थना पर वे राजधानी में पधारे। राजा ने उनकी बड़ी सेवा की। उन्हें जापान में आयोजित होने वाले 'सर्वधर्म सम्मेलन' में सम्मिलित होने का आग्रह किया, और वहाँ जाने का यात्रा-व्यय भी वहन किया। उस विद्यानुरागी राजा ने *'केदारखण्ड'* की पाण्डुलिपि के प्रकाशनार्थ आर्थिक सहायता दी और वजीर हरिकृष्ण रतूड़ी को गढ़वाल की परम्पराओं पर आधारित *'नरेन्द्र हिन्दू लॉ'* तथा *'गढ़वाल का इतिहास'* लिखने के लिए प्रोत्साहित किया।

Scanned by CamScanner

सकलाना मुआफीदारों के जुल्मों से प्रजा की रक्षा : उस काल में सकलाना के मुआफीदारों के जुल्मों से प्रजा बहुत दु:खी थी। वहाँ की 'बरा-बेगार' की कुप्रथा से प्रजा पर अत्याचार बढ़ चुके थे। इसके विरोध में, वहीं के रूपसिंह कण्डारी ने आवाज उठायी। राजा के हस्तक्षेप तथा कुमाऊँ कमिश्नर के सहयोग से, मुआफीदारों के दण्डाधिकार (मजिस्ट्रेटी पावर्स) समाप्त किये गये। जब राजा ने देखा कि सकलाना के मुआफीदार वनों का अन्धाधुँध कटान कर रहे हैं तो उसने सकलाना के सम्पूर्ण वन-क्षेत्र को भी टिहरी राज्य की वन-व्यवस्था के अन्तर्गत रख दिया ताकि वनों की सुरक्षा हो सके।

टिहरी के राजाओं में महाराजा कीर्तिशाह सर्वाधिक योग्य तथा आदर्श आचरण वाले राजा हुए। राज्यभार सँभालने के प्रारम्भ में ही, राजा की शासन-कुशलता की ब्रिटिश शासक भी प्रशंसा करने लगे थे। सन् १८६२ में हुए आगरा दरबार में वाइसराय लार्ड लैन्सडाउन ने भारतीय नरेशों के समक्ष उसके गुणों की प्रशंसा करते हुए कहा था, "यह बड़े सौभाग्य की बात होगी यदि भारत के राजकुमार गढ़देश के राजकुमार कीर्तिशाह को अपना आदर्श बनाने तथा उनके सदृश योग्यता प्राप्त करने का उद्योग करें।" उसके सद्गुणों तथा उत्तम राज-शासन के कारण ही ब्रिटिश सरकार ने दिल्ली दरबार (१६०३ ई०) में उसे 'सर' (KCSI) की उपाधि से विभूषित किया तथा १६०६ ई० में उसे 'राज्य कौन्सिल' का सरकारी सदस्य बनाया। सन् १६०७ में टिहरी आये लार्ड कैम्पबेल का कथन है कि, "कीर्तिशाह सदृश राजा मैंने भारतवर्ष के किसी भी भाग में नहीं पाया।"

राजर्षि कीर्तिशाह : व्यक्तिगत जीवन में, कीर्तिशाह एक-पत्नीव्रत था। वह अनेक भाषाओं में दक्ष तथा विधि का विद्वान् था। सभी इतिहासकारों ने उसके राज्यशासन एवं आदर्श जीवन की प्रशंसा की है। विजयराम रतूड़ी के अनुसार, "राजा का जीवन सच्चे ज्ञानी और पूरे कर्मयोगी का था। सांसारिक कार्यों में निमित्त-मात्र और निर्लिप्त साक्षी थे।"[२१] भक्तदर्शन के शब्दों में, "सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण इनकी चरित्रमत्ता और इनकी आध्यात्मिकता थी, जिनके कारण इन्हें राजर्षि कहना उपयुक्त होगा।"[२२] अहर्निश राज्यकार्य में व्यस्त रहते हुए वह सदैव प्रजा-सुख के लिए चिन्तित रहता था। सत्यप्रसाद रतूड़ी ने भी राजा की प्रजा-वत्सलता तथा आदर्श जीवन की प्रशंसा की है, "टिहरी के नरेशों में

२१. रतूड़ी, वि०, *पूर्वोक्त*, पृ० ११७.
२२. भक्तदर्शन, *पूर्वोक्त*, पृ० १६०.

कीर्तिशाह बड़े प्रजाप्रिय माने जाते हैं। वे धर्म प्रेमी, साहित्य-रसिक और साधु-सन्तों की सेवा करनेवाले थे।"[२३]

महाराजा कीर्तिशाह की मृत्यु, ३६ वर्ष की आयु में ही, २५ अप्रैल, १६१३ को हुई। उसके दो पुत्र थे—नेपालिया राणी से युवराज नरेन्द्रशाह तथा बिष्ट्याणी से कुँवर सुरेन्द्र सिंह।

महाराजा नरेन्द्रशाह
(१६१३-१६४६ ई०)

संरक्षण-समिति का शासन : महाराजा कीर्तिशाह के देहान्त के समय नरेन्द्रशाह १५ वर्ष से कम अवस्था का था। अतएव उस समय उसका 'राज्याभिषेक' ही हुआ। ऐसी अवस्था में, राजमाता नेपालिया ने 'संरक्षण-समिति' के अध्यक्ष के रूप में राज्य-भार सँभाला। इस समिति के वरिष्ठ सदस्य नरेन्द्रशाह के चाचा कुँवर विचित्रशाह थे। राजमाता के अस्वस्थ होने पर, क्रमश: सेमियर तथा म्योर अध्यक्ष रहे। प्रथम विश्वयुद्ध में समिति ने, अन्य देशी राज्यों की भाँति, ब्रिटिश सरकार की सहायता की। सन् १६१६ से राज्य में भूमि-व्यवस्था प्रारम्भ की गयी जिसे 'डोरी पैमायश' कहा गया। इसी समय टिहरी राज्य तथा हुणदेश के मध्य सीमा-विवाद समाप्त किया गया, और हिमाचल बुशहर से भी सीमा-विवाद सुलझाया गया। दक्षिण में टिहरी राज्य की सीमा मुनि-की-रेती तक तथा टिहरी राज्य एवं देहरादून के मध्य चन्द्रभागा नदी द्वारा सीमा निर्धारित की गयी। अब तक राज्य में न्याय-संहिता न होने से निर्णयों में एकरूपता नहीं थी। अतएव गढ़वाली समाज में प्रचलित परम्पराओं से सुपरिचित वजीर हरिकृष्ण रतूड़ी द्वारा रचित 'नरेन्द्र हिन्दू लॉ' को राज्य के न्यायालयों में सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में प्रयोग करने का आदेश हुआ। यह ग्रन्थ राज्य-व्यय पर १६१८ ई० में प्रकाशित हुआ। फिर भी, संरक्षण-समिति का कार्य-व्यवहार सन्तोषजनक नहीं रहा। समिति राज्यकर्मचारियों की दलबन्दी तथा स्वेच्छाचारिता पर अङ्कुश लगाने में असमर्थ रही। 'संरक्षण-समिति' का कार्यकाल ४ अक्टूबर १६१६ को समाप्त हो गया।

मेयो कॉलेज अजमेर में विद्याध्ययन काल में ही, १६१६ ई० में, नरेन्द्रशाह का विवाह क्यूँठल राजकुमारियों, कमलेन्दुमति तथा इन्दुमति के साथ हो चुका था।

२३. रतूड़ी, स०, *पूर्वोक्त*, पृ० ४६.

Scanned by CamScanner

नरेन्द्रशाह का शासन : २१ वर्ष पूर्ण होने पर, महाराजा नरेन्द्रशाह वि०सं० १६७६ (४ अक्टूबर, १६१६) में विजयादशमी को सिंहासनारूढ हुआ। अपने शासनकाल के प्रथम वर्ष में ही उसने पञ्चायतों की, तथा १६२० ई० में साहूकारों के भारी ब्याज से मुक्ति पाने के लिए 'कृषि बैंक' की स्थापना की। जिसके माध्यम से कृषकों को सहायता दी जाती थी। १६२१ ई० के आश्विन नवरात्र में राजा ने रानियों के साथ देवलगढ़ की यात्रा की तथा कुलदेवी श्रीराजराजेश्वरी के प्रासाद का जीर्णोद्धार कराया। उसी वर्ष राज्य में जनगणना की गयी। राज्य-शासन में प्रमुख व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करने के लिए उसने १६२३ ई० में 'राज्य प्रतिनिधि सभा' की स्थापना की। इसका अध्यक्ष स्वयं राजा था तथा उपाध्यक्ष कुँवर विचित्रशाह। १६२३ ई० में ही राजधानी टिहरी में 'सार्वजनिक पुस्तकालय' की स्थापना हुई। १६२६ ई० में उसने दीवान पद पर एक सुयोग्य प्रशासक चक्रधर जुयाल की नियुक्ति की।

उसके राज्यकाल में आधारिक एवं मिडिल पाठशालाओं की संख्या में वृद्धि हुई। उच्च शिक्षा की सुविधार्थ १६२० में 'छात्रवृत्ति-निधि' स्थापित की गयी। १६४० में प्रताप हाई स्कूल इण्टर कॉलेज बना। राजमाता नेपालिया ने बालिकाओं की शिक्षा के लिए १६४२ में नगर में एक 'कन्या पाठशाला' खोली।

राजा ने मितव्ययता से राजकोष की स्थिति सुदृढ़ की। वन राज्य की आय के प्रधान साधन थे जिनके संरक्षण की ओर उसने विशेष ध्यान दिया। ब्रिटिश सरकार को ठेके (लीज) पर दिये गये टोन्स प्रभाग के वनों को अपने प्रबन्ध में लौटाकर राज्य की आय में अत्यधिक वृद्धि हुई। उसने राज्य के व्यय पर युवकों को वन सम्बन्धी अध्ययन हेतु विदेशी कॉलेजों में भेजा।

महाराजा नरेन्द्रशाह ने भी अपने नाम से नरेन्द्रनगर की स्थापना की जहाँ राजभवन का निर्माण १६२४ ई० में पूर्ण हुआ। १६२५ में राजधानी वहाँ स्थानान्तरित की गयी। मुनि-की-रेती (ऋषिकेश) से नरेन्द्रनगर, मुनि-की-रेती से कीर्तिनगर, नरेन्द्रनगर से टिहरी तथा कीर्तिनगर से टिहरी तक मोटर मार्गों का निर्माण राज्य-व्यय पर किया गया। इससे यातायात तो सुगम हुआ ही, व्यापार में भी वृद्धि हुई। राज्य की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए उसने विविध प्रयास किये।

न्याय सुविधा के लिए, नरेन्द्रशाह ने परगनों में परगनाधिकारी नियुक्त किये और 'सिविल एण्ड सेशन जज' की अदालत स्थापित की। छोटे न्यायालयों की अपीलें 'चीफ कोर्ट' में तथा चीफ कोर्ट की अपीलें 'हुजूर कोर्ट' में होती थीं जहाँ राजा स्वविवेक से न्याय करता था। जनहित में जो नियम तथा अधिनियम इस

काल में पारित हुए उनकी एक संक्षिप्त सूची ठा० शूरवीर सिंह पँवार ने 'गढपरिवृढ वंशवैजयन्ती' में दी है (१६८६, भूमिका, पृ० ५७)। असंदिग्ध रूप से, प्रशासन में सुधार की दृष्टि से नरेन्द्रशाह के शासनकाल में टिहरी राज्य अनेक भारतीय देशी राज्यों से बहुत आगे था।

१६२४ से १६४२ ई० तक महाराजा नरेन्द्रशाह ने देश-विदेश की अनेक यात्राएँ कीं। राजा की अनुपस्थिति में उसकी विदुषी पितामही गुलेरियाजी के परामर्श से राजकार्य चलता था। अपने यात्रा-अनुभवों का लाभ उसने राज्य में किये गये बहुसंख्यक 'सुधारों के रूप में दिया। परन्तु, महाराजा नरेन्द्रशाह के देश-विदेश भ्रमण के परिणामों पर यह भी टिप्पणी की गयी है कि, "नरेन्द्रशाह ने अपने राज्य में कई नयी योजनाएँ बनायीं, किन्तु उनमें से कुछ ही सफल हो सकीं। उसका मुख्य कारण यह था कि नरेन्द्रशाह प्रायः देश-विदेश की यात्रा पर रहते थे। जिससे राज्यकर्मचारियों को मनमानी एवं लापरवाही करने का अवसर मिल जाता था।"[२४] इसी प्रकार के विचार टिहरी के जन-आन्दोलन के सक्रिय नेता एक अन्य लेखक ने भी व्यक्त किये हैं—"नरेन्द्रशाह पूर्णतया सुशिक्षित, सुयोग्य अच्छी सूझ-बूझ वाले व्यक्ति थे। उन्होंने अपने राजकाज को बड़े सुचारु रूप से चलाने का प्रयास किया, परन्तु वे मजबूर थे अपनी आदतों, शौकों तथा सामन्ती परम्पराओं से।.... इन यात्राओं में, अपने चाव एवं शौक में समय लगा, धन व्यय हुआ और राज्य-कर्मचारियों को मनमर्जी से कार्य करने की छूट मिली। फलस्वरूप, बहुत-सी गड़बड़ियाँ हुईं। प्रजा के दुःख-दर्द की कोई सुनवाई नहीं हो पायी।"[२५]

महाराजा नरेन्द्रशाह के शासनकाल की दो राजनीतिक घटनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं —

(१) १६ गते ज्येष्ठ (३० मई) सन् १६३० में **'रवाँजी-काण्ड'**। रवाँजी-काण्ड, राज्य में सन् १६२७-२८ में हुई 'वन-व्यवस्था' के अन्तर्गत उस सीमा-निर्धारण (मुनरबन्दी) का परिणाम था जिसमें ग्रामीणों पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे। रवाँजी के कृषकों ने विद्रोहकर 'सीमा-निर्धारण' नियमों को तोड़ दिया। विद्रोह के दमन के लिए राज्य के दीवान द्वारा गोलियाँ चलायी गयीं। राजा उन दिनों यूरोप की यात्रा पर था। यात्रा से लौटने पर नरेन्द्रशाह ने रवाँजी-काण्ड की जाँच हेतु एक कमेटी नियुक्त की।

---

२४. बहुगुणा, म०, ***गढ़राज्य शासन की यादें***, टिहरी, सं० २०५२, पृ० १३२.
२५. रतूड़ी, स०, ***पूर्वोक्त***, पृ० ५४, ५७.

(२) सन् १६३८ के उपरान्त राज्य से बाहरी नगरों में टिहरी राज्य के जागरित युवकों द्वारा '**प्रजामण्डल शाखाओं की स्थापना**'। देहरादून, मसूरी, आदि नगरों में 'प्रजामण्डल-शाखाओं' का विचार १६ सितम्बर १६३८ को हुए काँग्रेस के गुजरात अधिवेशन के उस निश्चय से उत्प्रेरित हुआ जिसमें देशी राज्यों की प्रजा के अधिकारों की रक्षा 'प्रजामण्डल' द्वारा सञ्चालित करने का प्रस्ताव हुआ था। इसकी हवा टिहरी गढ़वाल पहुँची थी। टिहरी राज्य में भी 'प्रजामण्डल' की माँग राज्य में उत्तरदायी शासन की स्थापना करना था। सन् १६३६ में सुमन के इसमें प्रवेश से प्रजामण्डल को नवीन जीवन मिला। १६४४ ई० में कारागार में ही सुमन के स्वर्गवास होने से प्रजा का यह आन्दोलन अधिक प्रज्वलित हो गया।

इन दोनों घटनाओं के पीछे वस्तुतः दो मुख्य कारण थे—(१) राजपदाधिकारियों की मनमानी, जो प्रजा की पुकार को राजा तक पहुँचने ही नहीं देते थे। (२) ब्रिटिश भारत में हो रही जन-जाग्रति एवं जन-आन्दोलनों की हवा। सुमन की राजा के प्रति विशेष आदर की भावना थी। उसका संघर्ष टिहरी राज्य की नौकरशाही के विरुद्ध था। फरबरी १६४४ में, सुमन ने अपने अन्तिम मुकद्दमे की पैरवी स्वयं करते हुए कहा था—"मेरे विरुद्ध पेश किये गये साक्षी सर्वथा बनावटी हैं। वे या तो सरकारी कर्मचारी हैं या पुलिस के आदमी हैं। टिहरी राज्य में मेरा तथा 'प्रजामण्डल' का ध्येय वैध एवं शान्तिपूर्ण ढंग से श्रीमहाराज की छत्रछाया में उत्तरदायी शासन प्राप्त करना है। श्री महाराज के प्रति मैं पूर्ण सद्‌भावना, श्रद्धा एवं भक्ति के भाव रखता हूँ। टिहरी महाराज तथा उनके शासन के विरुद्ध किसी प्रकार का विद्रोह, द्वेष एवं घृणा का प्रचार मेरे सिद्धान्त के विरुद्ध है।[२६] राजा भी सुमन की योग्यता से परिचित था। उसे यह भी विदित था कि सुमन के रहते 'प्रजामण्डल' की राजा के प्रति निष्ठा बनी रहती। राजा की विवशता के सम्बन्ध में, टिहरी निवासी एक लेखक का कथन सर्वथा सत्य है कि, "नरेन्द्रशाह अपना तथा अपनी प्रजा का भला भली प्रकार जानते थे। वे समझते थे कि राज्य के अन्दर राजा का और प्रजा का आपस में समन्वय किस प्रकार होना चाहिए। किन्तु ऐसा करने से अँग्रेज नाराज हो जाते। यही दोनों बातों की द्विविधा उसके साथ हमेशा छाया की तरह रही। इस बात का लाभ राज्याधिकारियों ने उठाया।"[२७] अतएव राजा की विवशता "सामन्ती परम्पराओं" से नहीं, प्रत्युत अँग्रेजों के साथ अपने सम्बन्धों के

२६. भक्तदर्शन, *सुमन-स्मृति ग्रन्थ*, पृ० १२७.
२७. बहुगुणा, म०, *पूर्वोक्त*, पृ० २१४.

कारण थी। जो राजा सादा जीवन व्यतीत करता था, मितव्ययी था, जिसने जीवन में कभी मदिरा-पान नहीं किया था तथा जिसने टिहरी राज्य को आधुनिक सुख-सुविधा-सम्पन्न बनाने का सदैव प्रयत्न किया था, वह प्रजा के प्रति क्रूर नहीं हो सकता था। 'रवाँञी-काण्ड' के समय राजा यदि राजधानी में होते तो यह अप्रिय घटना कभी घटित न होती। देहरादून से प्रकाशित '*गढ़वाली*' समाचार पत्र ने राज्य-कर्मचारियों को ही रवाँञी-काण्ड का उत्तरदायी मानते हुए लिखा था—"महाराज कितने दयालु, कितने प्रजा-हितैषी और प्रजा-प्रिय हैं इसे कहने की आवश्यकता नहीं। इसे प्रजा के लोग स्वयं जानते हैं। किन्तु जिनके सुपुर्द महाराज अपनी प्रजा की देख-रेख का भार कर गये थे उनकी लापरवाही एवं कुनीति के कारण रवाँई में यह घटना घटी जो आज तक गढ़वाल राज्य के इतिहास में कभी नहीं घटी थी।"[२८] सुमन के कारागार में देहान्त से कुछ दिन पूर्व ही, नरेन्द्रशाह 'नरेन्द्र-मण्डल' की बैठक में भाग लेने के लिए मुम्बई चले गये थे। किन्तु स्पष्ट रूप से आदेश दे गये थे कि सुमन को मुक्त कर दिया जाये। इन दो घटनाओं के कारण ही, नरेन्द्रशाह द्वारा किये गये राज्य एवं प्रजा-हित के कार्यों का महत्त्व कम नहीं होता।

स्वास्थ्य अच्छा न रहने पर, महाराजा ने पुत्र के लिए सिंहासन त्याग दिया, और १६ प्रविष्टे आश्विन सं० २००३ को विजयादशमी के दिन युवराज मानवेन्द्रशाह को सिंहासन पर बिठा दिया। २७ वर्ष से कुछ अधिक शासन करने के उपरान्त, ५२ वर्ष की आयु में ही २२ सितम्बर, अक्टूबर १६५० में महाराजा नरेन्द्रशाह का स्वर्गवास हो गया। उसके दो पुत्र थे—छोटी राणी इन्दुमति से युवराज मानवेन्द्रशाह और बड़ी राणी से कुँवर शार्दूलविक्रमशाह।

महाराजा मानवेन्द्रशाह
(१६४६-अगस्त १६४६ ई०)

युवराज मानवेन्द्रशाह का राज्याभिषेक ५ अक्टूबर १६४६ को हुआ। बताया जाता है कि, शासन-नीतियाँ तब भी महाराजा नरेन्द्रशाह के पुराने राज्याधिकारियों की इच्छानुसार चलती रहीं। २६ अगस्त १६४६ को 'दरबार' और 'प्रजामण्डल' में समझौता हुआ था कि राज्य-बन्दियों को बिना शर्त मुक्त किया जायेगा तथा दरबार प्रजामण्डल के कार्यों में बाधा नहीं डालेगा। परन्तु 'कृषक आन्दोलन' के

२८. *गढ़वाली*, वर्ष २६, अङ्क ६, सम्पादकीय "टिहरी राज्य", २८ जून, १६३०.

Scanned by CamScanner

नेता दौलतराम आदि राजनीतिक बन्दियों को बिना शर्त मुक्त करने के बजाय उन्हें कारावास की सजा के साथ दण्ड भी दिया गया। इस प्रकार, अगस्त-समझौता को राज्यपदाधिकारियों ने भङ्ग कर दिया। राज्य द्वारा दमन-चक्र चलता रहा। सभी राजनीतिक बन्दियों पर मुकद्दमे चले। परिणामस्वरूप, १० फरबरी १६४७ में दौलतराम, नागेन्द्र सकलानी, आदि राजनीतिक बन्दियों ने इस माँग के साथ आमरण अनशन आरम्भ कर दिया कि उन पर लगाये गये आरोप वापस लिये जांय। उन्हें मुक्त करने के लिए जोरदार आवाज उठी। फलतः दरबार ने उन्हें २१ फरबरी को युवराज के राजतिलक के अवसर पर मुक्त कर दिया। अँग्रेजों द्वारा भारत छोड़ने की पूर्ण सम्भावना होने पर भी, विद्रोहियों का दमन करने के लिए, 'शान्ति-रक्षा अधिनियम' बनाया गया, जिस पर २८ अप्रैल १६४७ में राजा ने स्वीकृति दे दी।

'प्रजामण्डल' की प्रमुख माँग थी कि महाराजा की छत्रछाया में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना हो। २६-२७ मई १६४७ को टिहरी में 'प्रजामण्डल' का वार्षिक अधिवेशन हुआ। उसमें भी यही माँग दुहरायी गयी। उधर १५ अगस्त १६४७ को भारत स्वाधीन हो गया। सरदार पटेल ने देशी राज्यों के भारतीय संघ में विलीनीकरण की योजना बना ली।

सकलाना के मुआफीदार आरम्भ में ही कम्पनी सरकार के प्रति निष्ठावान् होने के कारण, इस काल में भी अपने ताल्लुके को एक स्वतन्त्र रियासत के रूप में देख रहे थे। जबकि सकलाना टिहरी गढ़वाल राज्य का ही अभिन्न अङ्ग था। जनता पर उनके अत्याचार बढ़ते गये। फलतः जनता प्रबल रूप से विद्रोही हो उठी। जन-आन्दोलन सफल हुआ। उसके मनोबल को देखते हुए, अन्ततः १५ दिस० १६४७ में मुआफीदारों को सकलाना का शासन 'आजाद पञ्चायत' को सौंपना पड़ा। इस सफल आन्दोलन से टिहरी राज्य में भावी जन-आन्दोलनों को अत्यधिक प्रेरणा मिली। शीघ्र बडियारगढ़, देवप्रयाग, कीर्तिनगर में भी 'आजाद पञ्चायतें' बनीं।

समय को देखते हुए, राजा ने 'प्रजामण्डल' की माँग स्वीकार कर ली। १५ जनवरी १६४८ को टिहरी नगर की सार्वजनिक सभा में वह पत्र पढ़ा गया जिसमें राजा द्वारा उत्तरदायी शासन की स्थापना का वचन दिया गया था। दूसरे ही दिन भारत सरकार की ओर से टिहरी की सार्वजनिक सभा में सूचित किया गया कि भारत सरकार के देशी राज्य विभाग ने टिहरी राज्य में शान्ति-सुव्यवस्था के लिए, राज्य के शासन को संयुक्त प्रान्त (अब उ०प्र०) की सरकार को सौंप

दिया है और स्थायी व्यवस्था तक, मिलिट्री पुलिस के सहयोग से सब डिविजनेल आफिसर राज्य व्यवस्था करेगा। घोषणा के अनुसार, समस्त राजनीतिक बन्दी मुक्त किये गये।

महाराजा मानवेन्द्रशाह देश की बदली हुई परिस्थितियों में प्रजा को अधिक अधिकार देना चाहते थे, किन्तु बताया जाता है कि अपने पिता के अङ्कुश के कारण वे ऐसा नहीं कर सकते थे। मानवेन्द्रशाह ने 'टिहरी गढ़वाल राज्य विधान परिषद्' की स्थापना का सुझाव दिया। उसके बनने तक 'अन्तरिम सरकार' की स्थापना कर दी गयी। उस काल में कुछ लोग तो राज्य का भारत संघ में विलीनीकरण चाहते थे, और दूसरे महाराजा की छत्रछाया में उत्तरदायी शासन चाहते थे।

'अन्तरिम सरकार' ने जिन योजनाओं की घोषणाएँ कीं, वे मात्र दिखावा थीं। "अन्तरिम सरकार के मन्त्रियों को प्रजा के हित की उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी अपने परिवार तथा इष्ट-मित्रों की थी।"

अन्ततः महाराजा मानवेन्द्रशाह ने विलीनीकरण के प्रपत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। जिसके परिणामस्वरूप, भारत सरकार की एक विज्ञप्ति द्वारा १ अगस्त १६४६ से 'टिहरी गढ़वाल राज्य' का, संयुक्त प्रान्त का ५०वाँ जनपद बनाकर, भारत संघ में विलीनीकरण हो गया। पँवार राजवंश का १०६१ वर्ष पुराना शासन समाप्त हुआ। इसके साथ 'गढ़वाल' का विभाजन भी समाप्त हुआ।

गढ़वाल राज्य के अन्तिम ६०वें पँवारवंशी राजा मानवेन्द्रशाह का देहान्त ५ जनवरी २००७ को हुआ। स्वाधीन भारत में, सांसद राजमाता कमलेन्दुमति के पश्चात्, वे १६५७ से २००४ तक आठ बार टिहरी गढ़वाल से सांसद निर्वाचित हुए। निःसन्देह, राजतन्त्र के प्रति गढ़वाल की जनता की आन्तरिक श्रद्धा चिरकाल से रही है।

उपसंहार

जबकि समस्त भारत में राष्ट्रवादी चेतना के फलस्वरूप जन-क्रान्ति की लहरें फैल चुकी थीं और स्वाधीनता के पश्चात् देशी राज्यों के भारत संघ में विलीनीकरण का प्रक्रिया जोरों पर थी, तब 'टिहरी गढ़वाल राज्य' उससे कैसे अप्रभावित रहता? इस छोटे राज्य की नियति अब उसी महाप्रवाह से बँधी थी। अतएव टिहरी गढ़वाल के 'जन-आन्दोलन' की गाथा को पृथक् रूप से नहीं देखा जा सकता। न भारत संघ में उसके विलीनीकरण अथवा राजसत्ता की समाप्ति का श्रेय मात्र उसके जन-आन्दोलनों को दिया जा सकता है।

❖❖

Scanned by CamScanner

परिशिष्ट : एक ऐतिहासिक लेख्य

असेम्बली भवन नरेन्द्रनगर में माननीय मुख्य मन्त्री गोविन्दवल्लभ पन्त जी का भाषण

दिनाङ्क १ अगस्त, १६४६ ई०

"टिहरी गढ़वाल वैसे तो हमेशा स्वतन्त्र रहा। यहाँ के राजा और यहाँ की प्रजा एक ही स्थान के रहनेवाले थे। उनकी सभ्यता, संस्कृति और रीति-रिवाज एक ही प्रकार के रहे, और दोनों के जीवन में भी किसी विशेष बात का अन्तर न था, सिवा इसके कि एक राजा था और बाकी प्रजावर्ग, जो उनके साथ ही उनके अन्य कार्य करता था। उस समय की जो परिस्थितियाँ थीं और जो आवश्यकता थी, उसके अनुसार उस समय किया गया और उसी के अनुसार उस समय प्रान्त का प्रबन्ध होता था।

"उस समय जो राजा अधिकार में थे, उनके साथ कई अवसरों पर कुछ खींचातानी भी हुई, परन्तु उसकी जिम्मेदारी उस समय के राजा के ऊपर इतनी न थी, जितनी कि अँग्रेजी हुकूमत पर जिसकी मातहती में उनको काम करना पड़ता था। राजे-महाराजे स्वयं कोई स्वेच्छा नहीं रखते थे।.... इसलिए उस स्थिति में ऐसी घटनाएँ होना सम्भव था, जो कि जनता के विचारों के अनुकूल न होकर प्रतिकूल रहती हों। परन्तु हमको यह भूलना नहीं है कि उसकी असली जिम्मेदारी उस समय के विदेशी शासकों पर थी, जो पराधीनता की जंजीरों को जकड़ने के लिए हमारे देश में राजाओं को काम में लाना चाहते थे। राजा लोग मजबूर थे और वह स्वयं जञ्जीरों से जकड़े हुए थे। इसलिए यदि यहाँ भी कोई ऐसी बात हुई हो तो हमें उसको इस समय भुला देना चाहिए।

"इस अवसर पर मैं टिहरी के महाराजा को, नरेन्द्रशाह जी और कीर्तिशाह जी को और दूसरे राजाओं को धन्यवाद देता हूँ और उनके प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। जो कुछ गलती उन्होंने कभी की तो वह मजबूरन अँग्रेजों के आदेश से की। परन्तु वह तमाम भलाइयाँ जो उन्होंने कीं, वह उन्होंने अपने स्वजनों के परामर्श से और उन्नति की नियत से कीं। आज हम टिहरी में और नरेन्द्रनगर में इतने भवनों को बना देखते हैं, सड़कों को बना हुआ देखते हैं और दूसरी चीजों को

जो हम यहाँ बना देखते हैं, उन सबके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं कि जिनके हाथ में पहले शासन की सत्ता थी, और हमें उनके उपकार को भुलाना न चाहिए। मुझे प्रसन्नता है कि, आपके यहाँ साल-डेढ़ साल हुआ, जिस तरह से पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रयास किया गया था उसमें आपको सफलता हुई।

"आपके डिप्टी प्राइम मिनिस्टर साहब ने भी एक सन्देश भेजा है, उससे हम आशा रखते हैं कि हमारे देश में जितनी भी देशी रियासतें हैं वह सब भारत में सम्मिलित हो जायेंगी।.... आज इसी के फलस्वरूप, टिहरी भी संयुक्त प्रान्त का एक अभिन्न अङ्ग बन रहा है।"

माननीय प्रधान सचिव का सन्देश

"मैं हिज हाइनेस महाराजा की उस उदार और देशभक्तिपूर्ण भावना की भी कृतज्ञता के साथ सराहना करता हूँ, जो उन्होंने स्वेच्छापूर्वक अपने अधिकारों को समर्पण करने के सम्बन्ध में होने वाली बातचीत में निरन्तर प्रदर्शित की है।"

— *समाचार*, सूचना विभाग, संयुक्त प्रान्त, लखनऊ,
१ सितम्बर १६४६ ई०, पृ० ३-८ से साभार.

Scanned by CamScanner